श्रीमते रामानन्दाय नमः

तत्त्वत्रय-निरूपण

जिसको

परमहंस टाटम्बारिजी ने

संग्रह किया

और

सनातनधर्म प्रेस, मुरादाबाद

में छपवा कर प्रकाशित किया।

प्रथमवार ५०० } संवत् १९९२ वि० { सर्वाधिकार सुरक्षित

॥ ॐ ॥

तत्त्वत्रयनिरूपण

चिदचिद्विशिष्टब्रह्मनिरूपणम्

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय ।
भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय ॥ १ ॥

सर्वापन्हवसंसिद्धब्रह्ममात्रतयोज्ज्वलम् ।
त्रैपदं श्रीरामतत्त्वं स्वमात्रमिति भावये ॥ २ ॥

त्रिपुरोपनिषद्वेद्यपारमैश्वर्यवैभवम् ।
अखण्डानन्दसाम्राज्यं रामचन्द्रपदं भजे ॥ ३ ॥

परिव्रज्याधर्मपूगालंकारा यत्पदं ययुः ।
तदहं कठविद्यार्थं रामचन्द्रपदं भजे ॥ ४ ॥

ब्रह्मादिपञ्चब्रह्माणो यत्र विश्रान्तिमाप्नुयुः ।
तदखण्डसुखाकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥ ५ ॥

चित् अचित् और ब्रह्म ये तीन पदार्थ हैं जिनके वास्तविक ज्ञानसे जीवका परमकल्याण होजाता है। चित्का अर्थ है जीव अचित्का अर्थ है जड़-प्रकृत्यादि। ब्रह्मका अर्थ है परमात्मा परमेश्वर परब्रह्म भगवान् नारायण और श्रीरामादिक। चित् और अचित् व्याप्य हैं। ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य छोटा होता है और व्यापक बड़ा होता है। व्याप्य अल्पदेशमें रहता है। और व्याप्य अधिक देशमें रहता है। भगवान् सर्वव्यापक है अतः ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं जहाँ परमात्मा न हो। तब तो चित्

वह कभी सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट रहता है और कभी स्थूलचिदचिद्विशिष्ट रहता है। अब ब्रह्म दो प्रकारका हुआ, और दोनों ही विशिष्ट हैं। इस दशामें यह प्रश्न होसकता है कि समस्त ब्रह्मवादी विद्वान् एक ही ब्रह्म अंगीकार करते हैं और इस मत में दो ब्रह्म माने गये। तब समस्त विज्ञसमाज-विरोध भी होगा और नारायणैक्य-प्रतिपादिका श्रुतियोंसे भी विरोध होगा, इस शंकाका क्या समाधान है? इसी सन्देहके समाधानके अर्थ विशिष्टाद्वैत शब्दकी योजना हुई है। विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे परमात्मनि। विशिष्टयोः अद्वैतम्—भेदरहितम् विशिष्टाद्वैतम्। विशिष्टं च विशिष्टं च यहाँ दो बार बिशिष्ट पदका उच्चारण है पहला विशिष्ट पद सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म-परक है और द्वितीय विशिष्ट पद स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मपरक है। उन दोनोंका अद्वैत अर्थात् अभेद है। यही विशिष्टाद्वैत शब्दका अर्थ है। इसी विशिष्टाद्वैतकी सर्वनिगमागम व्याख्या करते हैं। अब इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि विशिष्टाद्वैतवादीके मतमें चित् अचित् और ईश्वर ये तीन तत्त्वांगीकार हैं। इन्हीं तीन वस्तुओंकी विवेचना करनेके लिये तत्त्वत्रयनिरूपण नामका यह ग्रन्थारम्भ किया जाता है।

❀ अथ जीवतत्त्वविवेचनम् ❀

चित् अचित् और ब्रह्म ये तीन ही तत्त्व हैं इसी लिये इन को तत्त्वत्रय कहा जाता है। चित् अर्थात् चेतन जीव। अचित् अर्थात् जड़प्रकृति। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर भगवान् श्रीराम विशिष्टाद्वैत क्रमानुसार ही प्रतिपादन किया जाता है। वह जीव ज्ञानाश्रय है। ज्ञान जीवात्माका धर्म है। वह ज्ञान स्वसत्तामात्र से स्व और पर व्यवहारका कारण है। उसी ज्ञानका आश्रय

जीव है। ज्ञानाधिकरण होनेसे ही जीवको चित् या चेतन कहा जाता है यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि राधान्तमें आत्मा और ज्ञान दोनों ही द्रव्य माने गये हैं। तब उन दोनोंके परस्पर आधाराधेयभाव कैसे होसकते हैं। प्रश्नकर्ताका आशय यह है कि द्रव्य और गुण इन दोनोंका ही आश्रयाश्रयिभाव होता है। आश्रय उसे कहते हैं कि जिसमें कोई रहता है। आश्रयी आश्रय में रहने वालोंको कहा जाता है। इसका समाधान यह है कि दीप और प्रभा दोनों ही तेजोद्रव्य हैं। तो भी जैसे दीप प्रभा का आश्रय माना जाता है उसी प्रकारसे यद्यपि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है तो भी स्वधर्मभूत ज्ञानका आश्रय होता है। अर्थात् स्वधर्मभूतज्ञान स्व-चित्से कभी पृथक् नहीं रहसकता है अतएव उसे उसका आश्रय मानते हैं। आत्मा ज्ञानका आश्रय है अर्थात् आत्मा ज्ञाता है इस विषयमें निम्नलिखित श्रुतियाँ गमक हैं।

अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा। मनसैवैतान् पश्यन् रमते। न पश्यो मृत्युं पश्यति। विज्ञातारमरे केन विजानी-याज्जानात्येवायं पुरुषः। एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः एवमेवास्य परिद्रष्टुः।

प्रश्न—यदि आत्माको ज्ञानका आश्रय न मानकर बौद्धोंकी तरह ज्ञानमात्र ही मानें तो क्या क्षति है। उत्तर—यदि आत्मा को केवल ज्ञान मानेंगे तो अहं ज्ञानम्—मैं ज्ञान हूँ ऐसी प्रतीति तो होगी परन्तु 'अहं जानामि' मैं जानता हूँ। ऐसी प्रतीति जो कि सर्वजन प्रसिद्ध है नहीं होगी। क्योंकि जैसा उसका स्वरूप है वैसी प्रतीति भी अनिवार्य है। अतः आत्माको ज्ञाना-श्रय मानना ही चाहिये ऐसा माननेसे 'अहं जानामि' यह प्रतीति होजायेगी। प्रश्न—यदि आत्मा ज्ञानाधार है तो—

यो विज्ञाने तिष्ठन् । विज्ञानमयः विज्ञानयज्ञं तनुते ।

इत्यादि श्रुतियोंमें उसे ज्ञानत्वेन क्यों निर्दिष्ट किया गया है अर्थात् उसे ज्ञान शब्दसे ही क्यों कहा गया है। उत्तर—

तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । अर्थात् ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है पहलवान् ग्रामके समान मुख्य वस्तुके नामसे ही व्यवहार करनेकी पद्धति पड़गई है। अतः वह ज्ञान शब्दसे भी कहा जाता है। वास्तवमें ज्ञानाश्रय ही है। वह आत्मा अजड़ है। ज्ञानेन विना स्वयमेव प्रकाशमानत्वम् । अर्थात्—स्वयंप्रकाश-स्वरूप है। आत्माके प्रकाशके लिये अन्य आलोककी आवश्यकता नहीं है, उसके स्वयंज्योति होनेमें समीचीन वेदवाक्य प्रमाणभूत है अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। कतम आत्मा योऽयं विज्ञान-मयः प्राणेषु ह्यन्तर्ज्योति :पुरुषः । वह आत्मा अणु परिमाण वाला है। प्रश्न। जिस देशमें जीवात्माका जन्म हुआ है उससे भिन्न प्रदेशमें भी उसके भोगके लिये सामग्री उत्पन्न कीगई है। जैसे प्रयागमें उत्पन्न हुए चेतनके वास्ते ,उसके अदृष्टवशात् श्री चित्रकूटमें भी उसके सुखके अर्थ पदार्थ बनाये गये हैं। यदि उसके प्रयोजन श्रीचित्रकूटमें पदार्थ न बनाये गये होते तो वह चित्रकूटमें आकर जल पवन नाक इला और अन्नादिके विना एक क्षण भर भी जीवित नहीं रहसकता है। अतः उसके लिये पदार्थ अवश्य बने हैं। उस भोग्यवस्तुकी उत्पत्तिमें चेतनका प्रारब्ध हेतु है। क्योंकि कारणसे ही कार्योत्पन्न होता है। कारण और कार्य दोनों एकाधिकरणमें रहते हैं अर्थात् जिस स्थानमें कारण रहे उसीमें कार्य भी प्रकट हो अथवा जिस अधिकरणमें कार्योत्पन्न हुआ है वहाँ कारणका रहना आवश्यक ही है यह सार्वत्रिक नियम है। ऐसा नहीं होसकता कि कारण

न्यत्र रहे और कार्यान्यत्रोत्पन्न हो। जैसे फल बीज कारण है और उसमेंसे उगने वाला पौधारूप कार्य है। कभी किसीने ऐसा नहीं देखा है कि रसाल बीज केदारमें आरोप किया गया हो और वह किसी कसारमें अथवा पर्वत पर उत्पन्न होगया हो। अतः सर्वतन्त्र सिद्धान्तसे कार्य कारणका सन्निकर्ष आवश्यक है। यदि जीवको अणु मानेंगे तो वह अमुक नियत न्यूनदेशमें ही रहेगा परन्तु उस अधिकदेशमें वह नहीं रह सकेगा जहाँ उसके लिये भोग्यपदार्थ उत्पन्न किये गये हैं। जब वह वहाँ नहीं रहेगा तो कारणभूत अदृष्ट भी वहाँ नहीं रहसकेगा। क्योंकि वह प्रारब्ध उसी चेतनमें ही रहता है। उस अदृष्टका आश्रयात्मा है। चेतनाणु परिमित युक्त होनेसे जब उस प्रान्तमें नहीं रह सकता तो आधारशून्य अदृष्ट भी वहाँ नहीं विद्यमान रहेगा। यदि प्रारब्ध नहीं रहसकता तो वह पदार्थ वहाँ कैसे उत्पन्न हुआ जिसका प्रयागमें उत्पन्न हुआ प्रत्यगात्मा श्रीचित्रकूटमें जाकर भोग करता है। अतः आत्माको विभु व्यापक मानना ही समीचीन है। सर्वगत माननेसे वह सर्वत्र विद्यमान रहसकता है। उसमें अदृष्ट भी रहेगा और तब कारण प्रारब्धकी सन्निधिमें कार्य-भोग्य वस्तुको उत्पन्नमें कोई भी हानि नहीं आसकती है उत्तर। जीवात्माके अणु मानने पर भी प्रदेशान्तरमें सुख वस्तु की उत्पत्ति निराबाधा है। क्योंकि चेतनात्माके किये हुए शुभा-शुभ कर्मोंके कारण भगवान्की प्रीत्यात्मिका वा कोपात्मिका बुद्धि का ही नाम अदृष्ट है। तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध ऐसी कोई वस्तु नहीं है कि जो चेतनात्मामें रहती हो। अधोक्षजकी दया वा कोप का ही नाम अदृष्ट है। जिस चेतनने उत्तम कर्म किये हैं उस पर राजीवनयनकी प्रसन्नता है और जिसने शुभरहित कर्म किये हैं उस पर कमलाक्षका कोप है। वैषम्य और नैर्घृण्य दोनों ही

बुद्धिविशेष हैं। अतः प्रधान पुरुषेश्वरकी प्रीत्यात्मिका तथा क्रूरात्मिका बुद्धिको ही अदृष्ट शब्दसे कहा जाता है। परमेश्वर तो सर्वव्यापक है ही। अतः उसकी वह प्रसन्नात्मिका रुष्टात्मिका धी भी सर्वत्र रहसकती है। तब वह प्रज्ञा उस प्रान्तमें भी रहेगी जहाँ जीवके लिये सुखोत्पन्न किये गये हैं। भाव यह है कि प्रभुकी तादृश धी ही उस चेतनके योग्य वस्तुके संपादनमें हेतु है। तादृशमनोशारूप कारण सर्वगतोपस्थित है। तब कारण और कार्य दोनों एकाधिकरणमें रहसकते हैं। कोई दोष नहीं है। प्रश्न। यदि ईश्वरकी तादृश धीशणा को ही अदृष्टरूप कारण मानेंगे तो निखिलाण्डमें उस जीवके लिये भोग्यपदार्थ उत्पन्न होने चाहियें क्योंकि भगवान्के सर्वव्यापक होनेसे वह बुद्धिरूप अदृष्ट भी सर्वव्यापक ही होगा। तब जहाँ वह अदृष्टरूप हेतु रहेगा वहाँ कार्यावश्य होना ही योग्य है। उत्तर—किसी कार्यके उत्पन्न करनेमें ईश्वरेच्छा भी तो कारण है। वह इच्छा जहाँ २ पदार्थोत्पन्न करनेकी होगी वहाँ ही उस जीवके लिये वह पदार्थोत्पन्न होंगे। सर्वत्र नहीं। अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि श्रीप्रभुकी उस प्रेमात्मिका वा कोपात्मिका बुद्धिका इतना ही स्वरूप है कि—अस्यात्मनोऽस्य कर्मणोऽस्मिन् प्रदेशे फलमिदमुत्पादनीयम्। इस आत्माके इस कर्मका यह फल इस प्रदेशमें उत्पन्न करना है ऐसा माननेसे कोई दोष नहीं आता है। प्रश्न—चेदात्माको अणु मानोगे तो एक ही कालमें वह अनेक विषयोंका अनुभव करता है सो उत्पन्न नहीं होसकेगा। जैसे कि कआदिकी सुरभी से वासित शीततोयको पान करते समय चेतनको युगपत् सुन्दर मधुर गन्ध और शीतस्पर्श आदिका अनुभव होता है वह अनुभवाणु होनेसे असम्भव होजावेगा,

तात्पर्य यह है कि भिन्न भिन्न कालमें भिन्न भिन्नानुभव होगा परन्तु युगपत् जो अनुभव होता है वह अब नहीं होगा। उत्तर—आत्मा यद्यपि स्वयं व्यापक नहीं है तथापि उसका धर्मभूत ज्ञान व्यापक है, उसकी व्याप्तिसे अनेक विषयोंका वह युगपत् अनुभव कर लेता है। जैसे वेश्मके एक प्रदेशमें स्थित दीपक अपनी प्रभाके द्वारा समस्त सद्मको प्रकाशित करता है उसी प्रकार एकदेशस्थित अणु आत्मा भी अपने धर्मभूत ज्ञान द्वारा सर्वविषय का अनुभव करता है, इसमें वेदवाक्य भी गमक है प्रज्ञया घ्राणं समारुह्य घ्राणेन गन्धानाप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि पश्यति। इत्यादि। प्रश्न—श्वेताश्वतर उपनिषद्में तो स चानन्त्याय कल्पते। इस वेदवाक्यसे आत्माको अनन्त अर्थात् विभु माना है। ऐसे ही गीतामें भी नित्यः सर्वगतः स्थाणुः। ऐसे ही प्रतिपादन कर आत्माको विभु बताया गया है तब आत्माका अणु होना तो शास्त्रविरुद्ध है। उत्तर—ऊपर कहा जाचुका है कि आत्माका धर्मभूत ज्ञान विभु है उसी ज्ञानकी व्याप्तिके कारण ही आत्माको अनन्त और सर्वगत कहा गया है। गीताके वचनका तो एक दूसरा भी समाधान है। "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः"के बदले "नित्यः सर्वगतस्थाणुः" ऐसा पाठ जानना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि वह आत्मा नित्य है तथा सर्वगत जो परमात्मा है उसमें वह आत्मा स्थ—रहने वाला है और अणुः अणु है। सर्वगते ब्रह्मणि तिष्ठतीति सर्वगतस्थः स चासावणुश्च ऐसा समझना चाहिये। प्रश्न—यदि आत्माको अणु न मानकर विभु ही मानें तो भी हानि क्या है? उत्तर—आत्माको विभु स्वीकार करने पर अनेकानेक वेदवचनों से विरोध होता है। श्रुतिमें जो आत्मोत्क्रान्ति—ऊर्ध्वजाना और

आगति—आगमन इत्यादि कहा गया है, वह विभु माननेसे असम्भावित होजावेगा, क्योंकि विभु पदार्थ कहीं जाता आता नहीं है। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। इस श्रुतिमें आत्माके निष्क्रमणका प्रतिपादन किया गया है। निष्क्रमणका अर्थ है निकलना ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। इस श्रुतिमें आत्माका चन्द्रलोकके प्रति गमन लिखा है। तस्मात्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इस श्रुतिमें आत्मा का आगमन लिखा हुआ है, ये तीनों बातें विभुमें नहीं घट सकती हैं। क्योंकि विभु उसे कहते हैं जो सर्वत्र विद्यमान हो। जो सर्वत्र रहेगा वह कहाँसे कैसे निकलेगा और कहाँ जावेगा अतः शास्त्रानुरोधसे आत्माको अणु अंगीकार करना समीचीन है, वह आत्मा श्रीहरिका धार्य है। धार्यत्वन्नाम तत्स्वरूपसंकल्पव्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ताव्यतिरेकयोग्यत्वम्। ईश्वर के स्वरूप और संकल्पके अभावमें आत्माकी सत्ता हानिके सम्भवकी योग्यता है, अतः वह भगवान्का धार्य है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सम्पूर्ण वस्तुओंको स्वरूप और संकल्पसे धारण करता है। यदि ऐसा न हो तो किसी वस्तुकी स्थिति नहीं होसकती है। अतः सम्पूर्ण पदार्थ भगवत्स्वरूप और ईश्वरेच्छाके आश्रित हैं। जैसे लोकमें हम देखते हैं कि शरीरका शरीर शरीरीके स्वरूप के आश्रित है तथा संकल्पके भी आश्रित है। अर्थात् जब तक शरीरी आत्मा शरीरमें रहता है तब तक शरीरकी भी स्थिति रहती है और जब वह उसे त्यागकर शरीरान्तरमें प्रवेश करता है तब उस शरीरकी भी स्थिति नहीं रहती, तथा शरीरके रक्षणादि

संकल्पोंके द्वारा भी आत्मा शरीरको धारण करता है, वैसे ही ईश्वर भी अपनी स्वरूपसत्ता और संकल्पसत्तासे सब पदार्थों को धारण करता है । इस विषयमें एष सेतुर्विधरणः। तत्सर्वं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । एवमेव चास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानः समर्पिताः । एतस्य वा अक्षरस्य शासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । इत्यादि अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं । वह आत्मा भगवान्का नियाम्य है। ईश्वरबुद्ध्यधीनसकल-व्यापारत्वम् नियाम्यत्वम् । अर्थात् उसके सम्पूर्ण व्यापार ईश्वरकी बुद्धिके अधीन हैं। जिस प्रकार शरीरकी निखिल प्रवृत्तियाँ शरीरीके आधीन रहती हैं, उसी प्रकार ईश्वरके शरीर-भूत जीवात्माकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ शरीरी ईश्वरके अधीन हैं। यहाँ इतना विशेष है कि आत्माका शरीर जड़ होनेसे स्वयं कुछ भी करनेमें नितान्त असमर्थ है, परन्तु ईश्वरका वह आत्मरूप शरीर चेतन होनेसे ज्ञानचिकीर्षा और प्रयत्नपूर्वक स्वतः भी प्रवृत्ति करता है। उसी प्रवृत्ति प्रयत्नके अनुसार ईश्वर उसे उस में दृढ़ करता है।

प्रश्न—यदि आत्माके समस्त व्यापार ईश्वराधीन हैं तो उस का कर्तृत्वरूप व्यापार भी ईश्वराधीन ही हुआ। इस दशामें यह स्वतः सिद्ध हुआ कि ईश्वरकी अनुमतिके विना जीव कुछ भी नहीं करता है। तब तो आत्माके लिये विधि और निषेध सब ही व्यर्थ हैं, इस प्रकारसे शास्त्रोंकी निरर्थकता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है। उत्तर—ज्ञान चेतनका स्वाभाविक धर्म है। अतः सामान्य रूपसे प्रवृत्ति और निवृत्तिकी योग्यता तो उसमें अवश्य है। पूर्वसंस्कारोंकी अपेक्षासे जीव अमुक कार्योंमें प्रवृत्त अथवा निवृत्त

होता है। भगवान् मध्यस्थ होकर उसके पूर्व वासनानुगुण विधि अथवा निषेधकी प्रवृत्तिमें अनुमति और अनादरोत्पन्न कराकर उसको सुख तथा दुःखरूप फलप्रद है। इस कथनसे यह स्पष्ट होगया होगा कि जब आत्मा प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वयं करता है तब उसे विधि और निषेधकी भी आवश्यकता है। ऐसी दशा में शास्त्रकी व्यर्थता भी नहीं होती है। प्रश्न—एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति। एष ह्येवा-साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति। इस वेद वाक्यसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्माके उन्नयन-ऊपर उठानेमें, सन्मार्गमें प्रवृत्त करानेमें और अधोनयन-नीचे गिरानेमें, अस-न्मार्गमें प्रवृत्त करानेमें ईश्वरको स्वातन्त्र्य है। एवं च अपनी स्वतन्त्रतासे जीवोंका पाप अथवा पुण्य कर्ममें प्रवृत्त करा कर पुनः उन्हें ही दण्ड अनुग्रहादि करना सर्वथा परमेश्वरका अन्याय है।

उत्तर-यह वचन वेदका है अतः सर्वसाधारण नहीं है किन्तु विशेष विषयक द्योतक है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि जो जीवेश्वरकी आज्ञाओंका सर्वथा पालन करता हुआ शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होता है उसे वह उसी अनुकूल अध्वमें लेजाते हैं। और जो भगवदाज्ञा विरुद्ध वर्तन करता है उसे उसी प्रतिकूल पथमें लेजाते हैं। तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ इत्यादि पूर्वोक्तार्थको ही श्रीहरि जी भी प्रतिपादन कर रहे हैं। जीवेश्वरका नियाम्य है इस विषयमें य आत्मनि तिष्ठन् य

आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः । इत्यादि वेदवाक्य गमक है। वह आत्मा ईश्वरका शेष है। चन्दनकुसुमताम्बूलादिवत् तस्य यथेष्टविनियोगार्हत्वम् शेषत्वम् ॥ अर्थात् यथेष्ट विनियोगके योग्य है। नारायण जिस प्रकारसे चाहे उसका उपयोग कर सकते हैं, जिस प्रकारसे चन्दन पुष्प ताम्बूलादि अपने लिये अनुपयुक्त होकर अन्यके लिये उपयोगी होते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा भी अपने स्वरूप स्वभावादि सब वस्तुओं से शेषी भगवान्के अतिशयका प्रयोजक होता है। इस विषयमें परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते । दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः ॥ स्वोज्जीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि । आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर ॥ इत्यादि वचन प्रमाण हैं। जीवको ईश्वरका धार्य, नियाम्य और शेष प्रतिपादन करनेसे जीवको ईश्वरका शरीर प्रतिपादन किया गया है जैसा कि श्रुति कहती है यस्यात्मा शरीरं यस्याक्षरं शरीरम् इत्यादि। वह आत्मा अचिन्त्य है। अचित्सजातीयतया चिन्तयितुमनर्हत्वम् अचिन्त्यत्वम् । अर्थात् प्रकृतिके जो धर्म हैं उन धर्मोंको समानतासे चिन्तनके अयोग्य है। तात्पर्य यह है कि प्रकृतिके धर्मोंसे विलक्षण धर्म वाला है, ऐसा अर्थ न कर यदि यह अर्थ करें कि वह किसी प्रकारसे भी चिन्तन करनेके योग्य नहीं है तो आत्मस्वरूप विषयक जो श्रवणमननादि शास्त्रों में उपदिष्ट है, सब निरर्थक होजावेंगे। अतः आत्मा उपर्युक्त प्रकारसे ही अचिन्त्य है। वह आत्मा देहेन्द्रिय प्राण और मनादि से पृथक् है। चार्वाक लोकायति नास्तिक एक ही मतानुलम्बीका नाम है। नास्तिकका सिद्धान्त है कि अहं कृशः अहं स्थूलः ।

मैं कृश हूँ मैं स्थूल हूँ इत्यादि प्रतीतिबलात् देहसे भिन्नात्मा कोई वस्तु नहीं है। जहाँ तक देह है वहाँ तक आत्मा है। यह न तो देहोत्पत्तिके पूर्व था और न देहपातके पश्चात् रहेगा। यह देह भूतोंका बना है। यद्यपि भूतोंमें चेतनाभाव ही है तो भी उनके अपूर्व संयोगसे कार्यभूत देहमें चेतनता आजाती है। जैसे तंतु वेणु अलाबु इन तीनोंमें वचन व्याहरण नहीं है, तथापि इन तीनोंका विलक्षण संयोग होनेसे सा री ग म प द नी इत्यादि स्पष्ट वचनोच्चारण होने लगता है, उसी प्रकारसे भूतोंके साम्मिश्रणसे चेतनताका प्रकट होना अयुक्त नहीं है। लोकायतिके मतसे ईश्वर स्वर्ग नरक और मोक्षादि कुछ भी नहीं है और धर्माधर्म भी नहीं है। ईश्वर लोक राजा नरक शरीरवेदना स्वर्ग अंगनाका आलिगन इस लिये यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि "स्थूलोऽहं कृशोऽहम्" इत्यादि लाक्षणिक प्रयोग है, अत एव "ममेदम् शरीरम्" यह मेरा शरीर है इस प्रकार का भेद भी प्रतिभासित होता है। यदि यह कुचोद्य करें कि जैसे तुम "ममेदं शरीरम्" इस प्रतीति के बलसे भेद सिद्ध करते हो ऐसे ही "अहं कृशः" "अहं स्थूलः" इस प्रतीतिके बलसे अभेद ही क्यों न मान लिया जावे तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा अभेद मानने में अकृताभ्यागम जो कर्म नहीं किया गया है उसके भी फलकी प्राप्ति और कृतविप्रणाश जो कर्म किया गया है उसके फलकी अप्राप्ति यह दो दोष प्रसक्त होंगे अर्थात् जब देह ही आत्मा है तब तो देहनाशके पश्चात् आत्माका भी नाश होगया, पुनर्जन्म का सिद्धान्त नष्ट होगया। तब इस देहसे किये गये पुण्य और पाप कर्मोंका कुछ भी विपाक नहीं मिला। इस प्रकारसे तो कृत विप्रणाश हुआ तथा एक ही पुरुषके दो पुत्र हैं। एक अन्धा है और एक आँख वाला है। एक मूर्ख है और एक विज्ञ है। इस

प्रकारसे वैषम्य देखे जानेसे अकृताभ्यागमकी प्रसक्ति होती है। पूर्वजन्म तो अब है ही नहीं, आत्मा नष्ट ही होचुका है। जिसने अन्धा और मूर्ख होनेका कर्म किया था वह मरगया। जिसने कुछ नहीं किया था उसे यह फल प्राप्त हुए। इसीका नाम अकृताभ्यागम है। कदाचित् यह कहो कि यह सब भी अनिर्दिष्ट स्वाभाविक ही होजाता है तो भी पुनर्जन्मका राधान्त एक अमर सत्य सिद्धान्त प्रतीत होता है। हम देखते हैं कि एक सोया हुआ नवजात अर्भक क्षणमें रोता है और क्षणमें हँस देता है। उसके मुखपर क्षण क्षणमें इन दोनों दशाओंका दृश्य देखनेमें आता रहता है। यह आश्चर्यजनक क्या है? यह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि वह नित्य निश्चल अपरिवर्तनीय आत्मा जिन कर्मोंका सुख वा दुःखरूप विपाक प्राक्तन जन्ममें भोग चुका है उनका अपने विशुद्ध और संस्कृतिकी किन्हीं भी राग द्वेषादि वासनाओंसे नितान्त शून्यान्तःकरणमें स्मरण कर करके हँसता और रोता है। हम देखते हैं कि गोवत्स सद्यजात ही जननीके स्तनकी ओर धावता है। कपिशिशु नूतन भव होते ही पादप की शाखा और अपनी माँकी पीठ आदिको ग्रहण कर लेता है। यह सब बातें प्राक्जन्मादिकी पुष्टि देती हैं, अतः देहात्मवादोचित प्रतीत नहीं होता है। प्रश्न—इन्द्रियोंको ही आत्मा क्यों न मान लिया जावे। चक्षुरादि से भिन्न किसी अन्य आत्मा की सत्ता नहीं है। यह भी कथन असमञ्जस ही है। यदि चक्षुरादि ही आत्मा होते तो "अहं चक्षुर्भ्याम् पश्यामि, श्रोत्राभ्यां शृणोमि, रसनया रसयामि" नेत्रसे देखता हूँ कानोंसे सुनता हूँ जीभसे स्वाद लेता हूँ, ऐसा ही नियत प्रयोग होता, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। इसलिये "नेत्राभ्यां पश्यामि" इत्यादि स्थलमें चक्षु से पृथक् कोई अन्य चेतन द्रष्टा है ऐसा भान होता है। और मैं

पूछता हूँ कि आप प्रत्येक इन्द्रियोंके देखे हुए पदार्थका अन्येन्द्रियप्रतिसंधान होता है। यथा "यमहमद्राक्षं तमहं स्पृशामि" जिसको मैंने देखा था उसीका स्पर्श कररहा हूँ। यदि कहो कि इन्द्रियोंके समूहको चेतनता है तो वह भी असंगत है। क्योंकि पाँचों इन्द्रियें मिश्रित होकर किसी एक वस्तुका अनुभव करते हैं। अथवा अनुसन्धान करते हों ऐसा देखा नहीं जाता है।

किञ्च इस समय यदि एकेन्द्रियका नाश होजावे तो उस प्राणीका मरण भी होजाना चाहिये। तथा उस उस इन्द्रियके नाश होनेसे उस उस इन्द्रियोंके अर्थोंका स्मरण भी नहीं होना चाहिये। अर्थात् अन्ध जनको रूपका स्मरण नहीं होना चाहिये। एवं इसी तरहसे निखिलेन्द्रियोंको समझ लेना चाहिये। परन्तु यह सब स्मरण होता है, ऐसा सर्वसाधारणके नित्यका अनुभव है। अतः यह पक्ष भी अकिञ्चित्कर है। प्रश्न—प्राणोंको ही आत्मा मानें तब क्या दोष होगा? उत्तर—यदि प्राणोंको ही आत्मा मानोगे तो "मम प्राणाः।" मेरे प्राण हैं। यह प्रतीति नहीं हो सकती है। क्योंकि मेरे यह जो षष्ठी विभक्ति है वह तो भेदमें ही होती है अभेदमें नहीं। यदि प्राण ही आत्मा हों तो "अहं प्राणाः" ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु ऐसी प्रतीति किसी निर्भ्रान्त मनुष्यको होती नहीं है। अतः अहम् अर्थात्मासे भिन्न प्राणोंकी सम्पत्ति होती है। इसमें प्रमाण पूर्वोक्त अर्थात् "मे प्राणाः" ऐसी प्रतीति ही है। प्रश्न—यदि मनको आत्मा मानें तो क्या आपत्ति है? उत्तर—मनको भी आत्मा नहीं कह सकते हो, क्योंकि "मनसा स्मरामि, मनसा जानामि, मनसा ह्येव पश्यामि।" इत्यादि स्थलमें मनको आत्माका साधनत्वेन अंगीकार किया गया है। यदि मनको प्रतीतिका करण न स्वीकार करें तो बाह्येन्द्रियोंके साथ स्व स्वविषयका सम्बन्ध होने पर ज्ञान होना चाहिये, परंतु

मनके अन्यत्र होनेसे वस्तुज्ञान नहीं होती है, अतः मनको साधनावश्य ही स्वीकार करना चाहिये। तब जो मन ज्ञानका करण है वह ज्ञानका कर्ता किस प्रकारसे होसकता है, अतः मन भी आत्मा नहीं होसकता है। वह आत्मा सुखस्वरूप है। सुखस्वरूपत्वम् सुप्तप्रबुद्धः सुखमहमस्वाप्समिति प्रतिसन्दधातीति सुखरूपं भवति। अनुकूलताका नाम सुख है और प्रतिकूलताका नाम दुःख है। आत्मा स्वयं स्वके लिये अनुकूल है अतः वह सुखस्वरूप है, इस अर्थमें वेदवचन गमक है सुखमहमस्वाप्सम्। मैं सुखसे सोया यह प्रत्यभिज्ञा भी गमक है। यहाँ सुखम् जो पद है सो क्रियाविशेषण है। क्रियाविशेषण क्रिया जिस कालमें होती है उसी कालमें रहता है, जैसे "शोभनं अर्चति" समीचीन पूजा करता है। यहाँ अच्छा क्रियाविशेषण है। यह सुष्ठुपन उसी समय है जिस समय अर्चन करने वाला अर्चन कर रहा है, ऐसे ही यहाँ पर सुख जो क्रियाविशेषण है उससे क्रियासमकालिक सुखका बोध होता है। सुषुप्ति कालमें प्राक्तनार्थके अनुभव न होनेसे तथा वर्तमानार्थके स्मरण होनेसे सोकर जागे हुये प्राणीको जो सुखमहमस्वाप्सम् यह प्रत्यय होता है, वह सुख उसके सुखस्वरूपताका द्योतक है, इस विषयमें ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा। ज्ञानानन्दैकलक्षणम्। इत्यादि तान्त्रीय वचन गमक हैं। तदेव आत्मा निरवयव है, अवयवसमुदायानात्मकत्वम् निरवयवत्वम्। अर्थात् विज्ञानमयो विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। इत्यादि वेदोक्त प्रकरणसे ज्ञानैकाकार होनेके कारण अचित् वस्तुओंके समान सावयव समूहात्मक नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानमें कोई सावयव नहीं है अतएव ज्ञानस्वरूप आत्मामें

भी कोई अवयव नहीं होसकता है। वह आत्मा निर्विकार है,
अविद्वद्विकारित्वेन विनैकरूपतयावस्थानम् निर्विकारित्वम्।
अमृताक्षरं हरः आत्मा शुद्धोऽक्षरः। इत्यादि प्रमाणोंसे आत्मा
अक्षर शब्दवाच्य होनेके कारण क्षरणस्वभाव वाले क्षरशब्दवाच्य
अविद्वस्तुके समान विविध विकारको न प्राप्त होकर सदा एक
रूपसे रहनेवाला है। अतएव गीतामें श्रीप्रभुजीने भी कहा है कि
अविकार्योयमुच्यते। वह आत्मा कर्ता और भोक्ता भी है। प्रश्न-
प्रकृतिको कर्त्री मानना चाहिये और चेतनको केवल भोक्ता मानना
चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं
यदा द्रष्टानुपश्यति। कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते॥
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। अर्थात् कर्तृत्व गुणों
में है और भोक्तृत्वात्मामें है। इन प्रमाणोंसे प्रकृतिको ही कर्त्री
स्वीकार करना चाहिये आत्माको नहीं। उसको तो केवल भोक्तृत्व
ही है अथवा आत्माको न तो कर्ता ही मानना चाहिये और न
भोक्ता ही। यह सब व्यवहार गुणोंमें ही युक्त है, क्योंकि आत्म-
विषयमें ऐसे ही वेदोद्धृत किया है। न जायते म्रियते वै कदा-
चित्। इत्यादि कथनोंसे आत्माके जन्म मरणादि प्रकृति धर्मोंका
निषेध करते हैं। हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते। इस वेदमन्त्रसे
हननादि क्रियाका भी कर्तृत्व निषिद्ध किया है। उत्तर—यह
व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृति तो चेतनशून्य है। यदि
अचेतनका कर्तृत्व स्वीकार करोगे तो चेतनको प्रत्यक्ष करके।
स्वर्गकामो यजेत। मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत। इत्यादि विधि असंगत

होजावेंगे। क्योंकि शिक्षा करनेसे ही शास्त्रमें शास्त्रत्व है। और शासन नाम है कर्ताका कार्यज्ञानोत्पादन द्वारा ही निभाव्य है। जड़ प्रकृतिको बोधोत्पत्ति करना नितांत संदिग्ध है। इस लिये समस्त शास्त्र व्यर्थ होजावेंगे। उनके वैयर्थ्यके भयसे भोक्ता जो चेतन है उसीका कर्तृत्व भी स्वीकार करना चाहिये। किञ्च यदि कर्त्री प्रकृति हो और भोक्ता चेतनात्मा हो तो अन्येन अत्तम् अन्येन वान्तम्। औरोंने खाया और दूसरेने वमन किया, इस न्याय का संगत होने लगेगा। अतः कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनोंको एकाधिकरण ही समुचित है। यहाँ पर इतना स्मरण रहे कि सांसारिक प्रवृत्तियोंमें जो आत्माको कर्तृत्व है वह स्वरूप प्रयुक्त नहीं है किन्तु गुणसंसर्ग प्रयुक्त है। प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ इसका भी पूर्वोक्त ही आशय है। वह आत्मा नित्य है। सर्वकालवर्त्तित्वम् नित्यत्वम्। अर्थात् वह आत्मा सर्वकालमें रहने वाला है। उसका कभी किसी कालमें विनाश नहीं होता है, इसमें न जायते म्रियते वा विपश्चित्। ज्ञाज्ञौ द्वावजानीशानीशौ। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः। क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः। क्षरात्मना विशते देव एकः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। इत्यादि श्रुति च स्मृति प्रमाणभूत है। प्रश्न—यदि आत्माको सर्वकालवर्ती मानोगे तो प्रजापतिः प्रजा असृजत। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिस्तोयेन जीवान् विससर्ज

भूम्याम् । इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णित जीवात्माका जन्म और पञ्चत्व कैसे सिद्ध होगा। उत्तर—यहाँ पर जन्मका अर्थ भाव-रहित भाव और मरणका अर्थ भावसे अभाव दशाको प्राप्त होना नहीं है। किन्तु आत्माका जन्म अर्थात् देह समन्वय और चेतनका मरण अर्थात् देह वियोग बस एतावत् ही अर्थ है, अतः उपर्युक्त श्रुतियोंसे किञ्चित् भी अपवाद नहीं। प्रश्न—यदि आत्माको नित्य मानोगे तो सृष्टिके प्रथम ऐक्यका अवधारण किस प्रकारसे होसकता है। उत्तर—नाम और रूपके पृथक् न होनेके ही में ऐक्य कहते हैं, सो तो अक्षत है। संसृतिसे प्राक् नाम और रूपाभाव ही था। जगत् होनेके पश्चात् शरीरके सह सम्बन्ध होने पर नामादिसे चेतन प्रयुक्त होता है। एकत्वावधारणमें कोई हानि नहीं है। लयावस्थामें यदि चेतनाभाव रहे तो अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश दोष उपस्थित होंगे, अतः चेतन अवश्य मानना ही योग्य है, वह आत्मा अव्यक्त है। घटपटादिग्राहि चक्षुराद्यग्राह्यत्वमव्यक्तत्वम् । यथा नेत्रादि इन्द्रियोंसे घटपटादिका ग्रहण होता है उस प्रकारसे इस चेतनात्माका ग्रहण नहीं होता है, अर्थात् नाशधर्मी घट पटादि पदार्थोंकी जिन गमकोंसे व्यक्तिज्ञान होते हैं उन प्रमाणोंसे चेतनकी व्यक्ति न होनेके कारण ही वह अव्यक्त शब्दसे कहा जाता है। अतः आत्मा केवल मानस प्रत्ययसे गम्य है। करणेन्द्रियज्ञानसे प्राप्ताभाव है। स्वल्पमें आत्मस्वरूपका विवेचन होचुका है, साम्प्रतम् उसके प्रकार-भेदको विवीनिक्त किया जाता है। बद्ध मुक्त और नित्य भेदसे आत्मा तीन प्रकारका है। प्रश्न—बद्ध जीव किसे कहते हैं ? उत्तर—जिस तरहसे तिलमें तैल और दारुमें वैश्वानर तिरोहित रहता है उसी प्रकार ईश्वरकी मायासे स्वरूपको न पहचाननेवाले अनादि

अविद्यासे संचित अनन्त पुण्य और अहंकर्मोंसे आवृत्त हुये अपने अपने कर्मोंके अनुगुण नाना प्रकारके देव मर्त्य और तिर्यक् आदि अनेक शरीरमें प्रविष्ट होकर देहमें अहंबुद्धि और शरीर-सम्बन्धी वस्तुओंमें ममता बुद्धिको धारण करे हुए दुर्वासनाधीन होकर स्वकर्मोंके अनुसार सुखदुःखानुभव करने वाले चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डमें निवास करने वाले ब्रह्मा रुद्र सनकादि योगी, नारदादि देवर्षि, वसिष्ठादि महर्षि, पुलस्त्य मरीचि दक्षादि नव प्रजापति, देवता दिक्पाल इन्द्र मनु असुर पितर सिद्ध गन्धर्व किन्नर किंपुरुष विद्याधर वसु आदित्य और चातुर्वर्ण्य भेद वाले मनुष्य पशु पक्षी सरीसृप पतंग कीटादि भेदवाले और तृणादि भेदवाले स्थावर इत्यादि बद्ध जीव कहे जाते हैं। इन बद्ध जीवोंमें भी जरायुज अण्डज उद्भिज्ज और स्वेदज ये चार भेद हैं। मनुष्यादि जरायुज हैं, परन्तु ब्रह्मा रुद्रादि सनकादि अयोनिज हैं। चिद्विग्रही श्रीजी श्रीप्रभुकी शक्ति हैं। शक्ति शक्तिमान् से कभी भिन्न नहीं रहसकती है। यदि शकितमान् अनादि है तो उसकी चिद्विग्रही शकित भी अनादि है। शक्तिमान्के नित्य सिद्ध होनेसे चिद्विग्रही शक्ति भी स्वतः नित्यसिद्ध है। षडैश्वर्यापन्न श्रीहरि जीवकोटिमें नहीं हैं तो उनकी अनपायिनी शक्तिको जीव माननेमें महान्धकार और निरयदायक है। तिर्यगादि जरायुज भी होते हैं तथा स्वेदज और अंडज भी होते हैं। स्थावरादि उद्भिज कहे जाते हैं। उद्भिज्ज शब्दका अर्थ है भूमि आदिको फाड़कर उत्पन्न होनेवाला। यह बद्ध जीव दो भेदका है शास्त्रवश्य और शास्त्रावश्य। जो मनुष्य शास्त्रकी आज्ञाके अधीन होकर निखिलकार्य करते हैं उन्हें शास्त्रवश्य कहते हैं। जो शास्त्रकी अधीनता स्वीकार नहीं करते अथवा तो जिनके लिये शास्त्र है ही नहीं उन्हें शास्त्रावश्य कहते हैं। शास्त्रवश्य दो तरहका है,

बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु उसे कहते हैं जो धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे मोक्षातिरिक्त निष्ठा तीनमें रखते हैं। वे भी दो प्रकारके हैं, अर्थकामपरायण तथा धर्मपरायण। धर्मपरायणके भी दो भेद हैं, देवतांतरपरायण और भगवत्परायण। भगवदितरके उपासक होते हैं उन्हें देवतान्तरपरायण कहते हैं। भगवत्परायण केवल भगवान् श्रीरामभद्रजीके उपासक कहाते हैं। उनकी प्राप्त्यर्थ श्रीजीको द्वारा मानते हैं, उनके अतिरिक्त किसी अन्य देवकी न तो द्वार मानते हैं और न भगवद्भक्तिका प्रदाता मानते हैं। मुमुक्षु भी दो प्रकारके होते हैं, कैवल्यपरायण और मोक्षपरायण। संसृतिप्रवृत्तिसे भिन्न होकर स्वात्मानुभव करनेका नाम कैवल्य है, अतः स्वात्मानुभव करनेवालेको कैवल्यपरायण कहते हैं। मोक्षपरायणके दो भेद हैं, भक्त और प्रपन्न। भगवत्परिचायक शास्त्रोंके श्रवणादिसे चिदचिद्विलक्षण अनवधिकातिशयानन्दस्वरूप निखिलहेयप्रत्यनीक समस्त कल्याणगुणाकर परब्रह्म भगवान् श्रीरामजीका निश्चय करके उनकी प्राप्तिकी उपायभूता सांग भक्तिसे जो मुक्तिकी इच्छा रखते हैं उन्हें भक्त कहते हैं। सांगभक्ति अर्थात् प्रतिमा निर्मित कर षोडशोपचारपूर्वक अर्चन करनेका नाम सांगभक्ति कही जाती है। जो जन अकिञ्चन और अनन्यगतिक होकर भगवान्की शरणमें जाते हैं उन्हें प्रपन्न कहते हैं। प्रपन्नके भी दो भेद हैं, त्रैवर्गिकपर और मोक्षपर। जो भगवान्से ही धर्म अर्थ और काम की इच्छा रखता है वह त्रैवर्गिकप्रपन्न कहा जाता है। और जो सत्सङ्गके द्वारा नित्यवस्तुविवेकसे संसृतिसे निर्विण्ण होकर मोक्षप्राप्तिके लिये किसी वेदशास्त्रापन्न सदाचारी आचार्यकी शरणमें जाकर पुरुषकारभूत श्रीजीको प्राप्त करके भक्त्यादि अन्य उपायोंके करनेमें समर्थरहित होकर भगवान् श्रीरामजीके

चरणकमलोंमें ही अपनेको समर्पण कर देता है। उसे मोक्षपर कहते हैं। प्रपन्नके और भी दो भेद हैं एकान्ती और परमैकान्ती। जो मोक्षके साथ २ अन्य फलोंकी भी इच्छा केवल श्री प्रभुजीसे ही रखता है उसे एकान्तीप्रपन्न कहते हैं। तथा जो भक्ति और ज्ञानके अतिरिक्त श्रीहरिसे कुछ भी नहीं चाहता उसे परमैकान्ती कहते हैं। परमैकांती दो प्रकारके होते हैं, दृप्त और आर्त। 'अवश्यमेव भोक्तव्यम्' जो कुछ मेरे शुभाशुभ कर्मफल हैं उनका भोग अवश्य ही करना है इस पथ पर आरूढ़ रह कर जो प्रारब्धकर्मफलका अनुभव करता हुआ मृत्युकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसे दृप्त कहते हैं। तथा जो संसारकी प्रबलाग्निको न सह कर प्रपत्तिके पश्चात् ही मोक्षकी इच्छा रखता है उसे आर्त कहते हैं। मुक्तविचार। जो अनादि कर्मप्रवाहके कारण संसृति बन्धनोंको प्राप्त होकर भी मोक्षके प्रतिबन्धक सर्वकर्मोंको किसी प्रकारसे भी नष्ट करके भगवत्कृपा विशेषसे मोक्षमें रुचि वाला होकर। निगमागमापन्न सदाचारनिष्ठ ऊर्ध्वरेता गुरुकी शरणमें जाकर निगमवेद्य परब्रह्म श्रीरामजीका ज्ञानोपार्जन करके विपाकादिकी इच्छाका संन्यस्त कर स्ववर्णाश्रमविहित कर्मोंका अनुष्ठान करके ज्ञानोत्पत्तिके अविरोधी निखिल प्राक्तन कर्मोंका क्षय करके अन्तःकरणको निर्मल करता है। सर्वतः निर्विण्ण होकर ईश्वरैकावलम्बी प्रत्ययको उपलब्ध करता है। उसके पश्चात् अनेक जन्मसंसाध्य कर्म और ज्ञानके द्वारा तोयधारावदविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूप भक्तिको अधिगत करता है। उसकी अविरल-भक्तिसे श्रीप्रभु प्रसन्न होकर उसके आधारके अर्थ अपनी बृहद्भुज फैला देते हैं। वह महाविश्वासपूर्वक श्रीप्रभुपद ही मेरे उपाय हैं, अन्य कोई भी उपाय नहीं है, ऐसी दृढ़ भावना करके निखिलांहोंसे निवृत्त होकर स्वरूपको प्राप्त होकर परमधाममें पहुँच

कर भगवत्कैंकर्यरूप भोगको भोगता है, उसे ही मुक्तजीव कहते हैं। मुक्तिके चार प्रकार कहे जाते हैं। सायुज्य सालोक्य सामीप्य और सारूप्य। परन्तु इसमें मतभेद है। ऋग्वेदका शाखा एकविंशति संख्या वाला है। यजुर्वेदका शाखा नवाधिकशत संख्या वाला है। सामवेदका शाखा एक सहस्र संख्या वाला है। अथर्वणवेदका शाखा पञ्चाशत् संख्या वाला है। एक २ शाखाकी एक एक उपनिषत् कही जाती है। इन उपनिषदोंमें से जो भक्तिपूर्वक प्रतिदिन एक एक ऋचाओंका पठन करता है, वह मुनिदुर्लभ मेरी सायुज्य पदवीको प्राप्त कर लेता है। हनुमान्जी श्रीप्रभुजी से पूछते हैं कि हे प्रभो! कोई श्रेष्ठ मुनि एक ही मुक्ति बतलाते हैं, कोई मुनि ऐसा कहते हैं कि काशीमें देहपातके समयमें शिवजी तारोपदेश मन्त्र देकर मुक्त कर देते हैं और कोई मुनि सांख्ययोगसे मुक्ति विधान करते हैं। और कोई भक्तियोगसे कथन करते हैं और कोई वेदान्तवाक्यार्थ विचारपूर्वक सालोक्यादि विभागसे चतुर्धा मुक्तिको ईरित करते हैं। स होवाच श्रीरामः। पारमार्थिकरूपिणी कैवल्यमुक्ति एक ही है। हे कपे! मेरा भक्त दुराचाररत भी हो तो भी मन्नामभजनसे सालोक्यमुक्तिको प्राप्त कर लेता है लोकान्तरादिको नहीं। काशीमें ब्रह्मनालके अन्तर्गत शरीरपात होने पर मेरे स्वरूपको पा लेता है। काशीमें जहाँ तहाँ मरने पर पुनरावृत्तिरहित मुक्तिको पाकर वह महेश्वर होजाता है। जीवके दक्षिण कर्णमें मेरे सम्बन्धी मन्त्रराजको पाकर निर्धूत अशेषपापौघ होकर मेरे सारूप्यको प्राप्त करता है। वे ही सालोक्य और सारूप्य नामसे मुक्ति कही जाती है। सदाचारी द्विज नित्य ही अनन्यभावसे मुझमें सर्वात्मकभाव होने पर मेरे सामीप्यमुक्तिको प्राप्त करता है। वही सालोक्य सारूप्य और सामीप्य

संज्ञावाली मुक्ति कही जाती है । गुरूपदिष्ट मार्गसे मेरे नित्य गुणोंका ध्यान करता हुआ द्विज मेरी सायुज्य नामकी मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, वही सायुज्यमुक्ति ब्रह्मानन्द करने वाली और शिव है। मेरी उपासनासे ही चतुर्विधा मुक्ति होती है और कर्मोंसे नहीं । इन वेदवाक्योंसे मुक्तिमें कोई भी तारतम्य देखने में नहीं आता है । उपासकके स्वस्वरुचिपरक होनेसे ही चतुर्विधा मुक्तिका विधान किया गया है, वस्तुतस्तु चारोंमें पुनरावृत्तिरहित ही विधान है। यदि तारतम्य है तो स्थानभेदसे है आनन्दमें नहीं, क्योंकि मुक्तिमें इतना ही भेद है कि परिच्छद और परिजन । परिजन होने ही का नाम सायुज्यमुक्ति है और तीन परिच्छद अर्थात् अलंकार वस्त्रादि इन भेदसे समझना चाहिये। यदि इस अर्थको न स्वीकार करनेसे अनेकानेक वेदवाक्यों से विरोध आने लगता है अतः नित्यजीव, जो कभी भी संसृति में कर्मबन्धनसे बद्ध होकर नहीं आते । जिनके भगवत्सम्बन्धी ज्ञानमें कभी संकोच और विकास नहीं होता, जिनके अमुकामुकाधिकार भगवान्‌की नित्य इच्छाके द्वारा अनादिकालसे व्यवस्थित हैं, जो प्रभुके समान ही स्वेच्छासे अवतार भी लेसकते हैं उन्हें नित्य जीव कहते हैं । यहाँ इतना स्मरण रहे कि मुक्तजीव भी यथेच्छ जहाँ तहाँ अनवच्छिन्न भ्रमण कर सकते हैं, अपनी इच्छासे वह भी नाना अवतार लेसकते हैं, यद्यपि जीव तो सभी नित्य हैं परन्तु इनके विशेषरूपसे नित्य कहनेका इतना ही प्रयोजन है कि इनके अधिकार अनादिकालसे नियत हैं और कभी भी यह संसारबन्धनमें नहीं आते हैं, तथा इनके ज्ञानका संकोच और विकास भी नहीं होता है। इन तीनों प्रकार के जीवोंमेंसे प्रत्येक जीव अनन्त हैं, इनकी गणना नहीं है । कितने ही लोग आत्माके अनन्त भेद स्वीकार न कर एक ही

आत्मा स्वीकार करते हैं। परन्तु ऐसा माननेमें अनेक अप्रतिपत्तियाँ हैं। उन लोगोंने ब्रह्माद्वैत और जीवाद्वैत जिसे प्रकार्यद्वैत और प्रकाराद्वैत भी कहते हैं परन्तु उसके तात्पर्यको न समझ कर ही एकात्मवादकी कल्पना की है। जीवाद्वैत अथवा प्रकाराद्वैतका आशय यह है कि समान परिमाण और समान आकृति वाले अनेक हेमघट रखे हुए हों उनमें जिस प्रकारसे एकत्व व्यवहार होता है, वा एक ही सजातिके रखे हुए अनन्त रत्नोंमें जैसे एकत्व व्यवहार होता है,वा एको ब्रीहिः सुनिष्पन्नः सुपुष्टं कुरुते जनम्। इत्यादि स्थलमें एक ही प्रकारके अनेक ब्रीहिमें भी जैसे एकत्व व्यवहार होता है उसी प्रकारसे सम्पूर्ण जीवात्माओंके ज्ञानैकाकार तथा रूप प्रकारके समान होनेके कारण ही भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा। इन वेदवाक्यों में एकत्व प्रतिपादन किया जाता है। यदि ऐसा न मानें तो नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। इत्यादि श्रुतियोंमें जो अनेकत्व विधान किया गया है, उससे विरोध प्राप्त होगा। प्रश्न—यह सब श्रुतियाँ औपाधिक भेद विधान करती हैं, ऐसा क्यों न मान लिया जावे। उत्तर—औपाधिक भेद विधान कहना उचित नहीं है। क्योंकि तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। मम साधर्म्यमागताः। मुक्तानां परमा गतिः। सायुज्यं प्रतिपन्ना ये। यस्मिन् परे विराजन्ते मुक्ताः संसारबन्धनैः। इत्यादि प्रमाणोंसे मोक्षदशामें भी आत्माओंका परस्पर भेद स्पष्ट सिद्ध है। प्रश्न—काम क्रोधादिसे तथा देव मनुष्यादि के भेदों से ही तो आत्मभेद की प्रतीति होती है, सो तो मुक्ति दशामें है नहीं। वहाँ तो सर्वप्रकारसे भेद निवृत्त हो

जाते हैं, तथा जीवात्माओंका अत्यन्त साम्य होजाता है। ऐसी दशामें किस प्रकारसे आत्मभेद सिद्ध होसकता है। उत्तर—जैसे अत्यन्त समान रत्न राशिमें नानात्वकी प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार मुक्ति दशामें अत्यन्त साम्यभावको प्राप्त हुये भी आत्माओं में नानात्व रहता है। यदि यह नानात्व स्वीकार न किया जावे और एकात्मवाद ही मान लिया जावे तो एक कालमें ही कोई सुखी और कोई दुःखी देखनेमें आता है ऐसा न होना चाहिये। यह भी नहीं माना जा सकता कि मुक्तिसे पूर्व नानात्व रहता है और मुक्तिमें एकत्व होजाता है। प्रश्न—देह भेदसे सुख तथा दुःखकी प्रत्यय है, ऐसे कहेंगे तो क्या उत्तर है? उत्तर—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि सौभरि ऋषिके शरीरमें ऐसा नहीं देखा जाता है। यदि पूछो कि देह भेदको नियामक नहीं माननेसे जन्मान्तरानुभूत पदार्थकी जन्मान्तरमें स्मृति क्यों नहीं होती है, तो मैं कहूँगा कि वह संस्कार नष्ट होगये जिनसे कि स्मृति होसकती थी। अथवा ऐसे ही अन्य कोई व्यवधान आगया है जिससे स्मरण दुर्लभ होगया है। तथा योगियोंको तो अनेक देहोंके अनुभव स्मृत हुआ करते ही हैं। कदाचित् कहो कि इसी संस्कारनाशरूप युक्तिको लेकर यह भी कहा जासकता है कि एकात्मवादमें भी चैत्रके अनुभूत वस्तुका मैत्रको स्मरण नहीं होता है, तो मैं कहूँगा कि तब तो चैत्रको भी स्मरण नहीं होना चाहिये क्योंकि संस्कार तो नष्ट ही हो चुका है। दूसरा दोष यह है कि यदि आत्मा एक ही माना जावे तो सुख और दुःखका एक ही आश्रय होनेके कारण एक ही कालमें दोनोंका प्रतिसन्धान एक ही व्यक्तिको होना चाहिये। और कोई बद्ध है और कोई मुक्त है, कोई गुरु है कोई शिष्य है यह सब व्यवस्था भी एकात्मवादमें बन ही नहीं सकती है, किञ्च देव मनुष्य तिर्यगादि विषमसृष्टि भी नहीं

होसकती है । यदि विषम सृष्टिका हेतु कर्म मानें तो भी अव्य-
वस्था दूर नहीं होती है । क्योंकि किसका कर्म किससे भिन्न है,
यह कर्म किसका है और यह कर्म किसका है इत्यादि अव्यवस्था
तो रह ही जाती है । अतः आत्माका नानात्व ही समीचीन पक्ष
है । इस पक्षमें नानात्मानो व्यवस्थातः । इत्यादि न्यायसूत्र तथा
जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं
सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव । इत्यादि सांख्यसूत्रकी भी अनु-
कूलता है । नेह नानास्ति किञ्चन । इत्यादि वेदवाक्य तो ब्रह्म
शरीरसे अतिरिक्त अन्य वस्तुका निषेध करता है । अर्थात्
यस्य पृथिवी शरीरम् । इत्यादि वेदोक्त रीतिसे जो कुछ है सब
भगवच्छरीर ही है इससे अतिरिक्त कुछ नहीं है । जिस प्रकार
से आत्माका स्वरूप नित्य द्रव्य अजड़ और आनन्दरूप है उसी
प्रकारसे आत्माका ज्ञान भी नित्य द्रव्य अजड और आनन्द
रूप है । प्रश्न—यदि ऐसा है तो आत्माके ज्ञान और स्वरूपमें
अन्तर ही क्या है ? उत्तर—१—आत्माका स्वरूप धर्मी है ।
२—उसमें संकोच और विकास नहीं होता है । ३—वह स्वाति-
रिक्तका अप्रकाशक है । ४—वह स्वके लिये स्वयं प्रकाश है, वह
अणु है । १—उसका ज्ञान धर्म है २—संकोच विकासके योग्य
है ३—स्व व्यतिरिक्तका प्रकाशक है ४—अपनेके लिये अप्रका-
शक है और ५—आत्माके लिये प्रकाशक है तथा ६ विभु है ।
आत्मा और ज्ञानका अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध है । आत्मा अपने
में अभेद सम्बन्धसे रहता अर्थात् स्वस्वरूप सम्बन्धसे रहता
है । आत्माके स्वयंप्रकाश माननेकी क्या ज़रूरत है, क्योंकि धर्म
भूत ज्ञान ही से निर्वाह हो ही जायगा । आत्माके स्वयं प्रकाशक
न माननेसे घटमहं जानामि यही ज्ञान होगा । पटमहं न जानामि

पटविषयक ज्ञान नहीं होगा अतः। प्रश्न—धर्मभूत ज्ञानके स्वयं प्रकाशक न माननेसे क्या क्षति है ? उत्तर—जब धर्मभूत ज्ञान स्वयं प्रकाशक है ही तब हो घटविषयक ज्ञानवान् अहमस्मि अर्थात् घटविषयक ज्ञानवाला मैं हूँ यह ज्ञान होता है। इन आत्माओं में से किन्हीं का ज्ञान सदा विभु है, किन्हीं का सदा अविभु है और किन्हीं का कदाचित् विभु है। मिथ्याज्ञान दुष्ट कर्मादिसे मलिन बद्ध जीवोंका ज्ञान कर्मानुगुण संकोच विकाशशाली होने से सदा अविभु है। मुक्त जीवोंका पूर्वावस्थामें अविभु था और भगवत् कृपा कटाक्षसे संसारसागरके पार होजानेके पश्चात् विभु होता है। नित्य जीवोंका सदा विभु ही रहता है। चार्वाक नास्तिकका यह मत है कि पृथिव्यादीनि चत्वारि तत्त्वानि तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्। पृथिवी जल तेज और वायु ये चार तत्त्व हैं। ये ही तत्त्व जब देहरूपसे परिणत होते हैं तब उस देहमें चेतनता उत्पन्न होजाती है। जैसे मदकण समूहसे मादिका शक्ति मदिरा आदिमें उत्पन्न होजाती है। जब वह तत्त्व नष्ट होते हैं तब वह चैतन्य भी उनका कार्य होनेसे नष्ट होजाता है। उसी चैतन्यसे युक्त देह ही आत्मा है। उससे भिन्नात्मा माननेमें कोई गमक नहीं है। बौद्धोंका मत है कि संविदः स्वयंप्रकाशत्वात्तस्या एवात्मत्वम्। किं च य संविदोऽन्यं संवेदितारमभ्युपगच्छति। अभ्युगपगच्छत्वेनासौ संविदम्। न ह्यसत्यामेव संविदि सम्वेत्तीत्युपपद्यते। एवं चेदुभयवादिसम्प्रतिपन्नतया सैव परं वेदित्री लाघवाद्भवतु। संवित्

ज्ञान स्वयंप्रकाश स्वरूप है अतः वही आत्मा है। जो पुरुष ज्ञान से भिन्न ज्ञानीको स्वीकार करता है वह ज्ञानको तो अवश्य ही मानता है क्योंकि ज्ञानाभावमें ज्ञानका जानने वाला कोई हो ही नहीं सकता है, अत एव ज्ञानीकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। जब ज्ञानको दोनों पक्ष स्वीकार कर रहे हैं तो एक ज्ञाताकी कल्पना न करनेसे जो लाघव प्राप्त है उस लाघवसे ज्ञानको ही आत्मा मान लेना सर्वोत्तम है। बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि विज्ञान क्षणिक है तो भी परलोकव्यवस्था अथवा बन्ध और मोक्षकी व्यवस्थामें कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम भी नहीं होता है। स्मृति आदिकी भी अनुपपत्ति नहीं होती है। क्योंकि अमुक विज्ञानके लिये अमुक कार्य-कारण नियत है तथा वह विज्ञान अनादि और अविच्छिन्न है, उसका कभी नाश ही नहीं होता है। प्रत्येक पुद्गलमें विज्ञान-सन्तान भिन्न २ है। पूर्व पूर्वका विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञानमें अनुबद्ध होता है। इस प्रकारसे विज्ञानकी सन्तति चलती है। वह विज्ञान सन्तान जन्मसे पूर्व और जन्मसे पश्चात् भी है। जैसे जीवित पुरुषका विज्ञान पूर्व पूर्व विज्ञानके कारण अनुवृत्त होता है वैसे ही गर्भादिमें आदि विज्ञान भी पूर्व पूर्वके क्रमसे प्राप्त जो चित्त उस चित्तके कारण अनुवृत्त होता है। आशय यह कि वह विज्ञान सन्तान केवल जन्ममरण एक ही नहीं रहता किन्तु सार्वदिक् है अत एव परलोकवादकी हानि नहीं होती है। यदि इस विज्ञानको कदाचित्क मानें तो उसका कोई एक निश्चित कारण अवश्य होना चाहिये। उसका कारण देह है यह तो नहीं कहा जासकता है। क्योंकि अपना या अपरका ऐसा कोई भी देह नहीं देखा जाता कि जो विज्ञानरहित हो और जिससे यह कल्पना की जासके कि वही शरीर विज्ञानका हेतु है। शरीर और विज्ञान

साथ ही दीख पड़ते हैं। साथ ही प्रतीयमान-उपलब्ध दो वस्तुओंमें कार्यकारण भावकी कल्पना नहीं होसकती है। कदाचित् कोई शङ्का करे कि हम देखते हैं कि इन्द्रियोंसे युक्त देहरूपाविज्ञानके वैचित्र्यका हेतु है। आप अस्वीकार क्यों करते हो तो इसके लिये बौद्ध कहते हैं कि वह जो हेतुता प्रतीत होती है वह आपाततः ही प्रतीत होती है, वास्तविक नहीं। क्योंकि स्वप्नादिमें देहकी अपेक्षाके विना ही रूपादि विज्ञान वैलक्षण्यकी प्रतीति होती है। वहाँ तो वासनावासित विज्ञान ही कारण है अतः सर्वत्र उन्हींको कारण मानना युक्त है। वासनावेष्टित पूर्व पूर्व विज्ञानोंके द्वारा उत्तर २ विज्ञान उत्पन्न होता है इसी लिये मरणकालिक विज्ञान भी वासनायुक्त ही रहता है और वह पश्चात् भी अन्य विज्ञानोंको उत्पन्न करता है। वह मनोविज्ञान विविध वासनाओंसे अधिष्ठित रहता है। वह जन्मसे पूर्व और मरणके पश्चात् भी नियत रहता है। उसमें क्रमसे ज्ञान सन्तान की स्थिति रहती है। इसी लिये तो उत्पन्न होते ही वत्सादि स्तनपानमें प्रवृत्त होते दीख पड़ते हैं। इस प्रकारसे इस अनादि और अनन्त विज्ञान सन्तानके द्वारा पारलौकिक व्यवस्थामें कोई त्रुटि उत्पन्न नहीं होती है। नैरात्म्यवादमें भी परलोक व्यवस्था का भंग नहीं होता है। रागादिसे उत्पन्न जो बन्ध है वह पूर्व पूर्व कारणसे युक्त होकर प्रतिक्षण उत्तरोत्तर कालमें उत्पन्न हो कर अनुवृत्त होता रहता है, वही चित्तका बन्धन है। विद्याके द्वारा जब उस मलकी बन्धनको निवृत्ति होजाती है तब वही मोक्ष कहा जाता है। यदि कोई इस पर यह शंका करे कि चित्त तो अनेक हैं और प्रतिक्षणभङ्गुर है, ऐसी दशामें जो मल बद्ध हुआ था वह तो नष्ट होगया, उसकी तो मुक्ति हुई नहीं और जो

मुक्त हुआ वह बद्ध नहीं था अतः उपर्युक्त पक्ष ठीक नहीं। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि चित्तसन्तान भी अनादि और अनन्त है। अविद्या रागादि वासनावासित पूर्व पूर्व स्वस्व प्रत्ययमें क्लेशमय ही उत्तरोत्तर कालमें चित्तोत्पन्न होते हैं। क्लेशमयता ही तो बन्ध है। जब दानादि सत्कर्मों द्वारा प्रज्ञा निष्पत्ति क्लेश-मल भी दूर होजाते हैं, तदनन्तर निर्मलचित्त उत्पन्न होता है। इसी निर्मलताको मुक्ति कहते हैं। इस प्रकारसे अन्यो बद्धोऽन्यो मुक्तः बद्धान्य होता है और मुक्तान्य होता है, यह दूषण नहीं आने पाता है। इसी रीतिसे कृतप्रणाश और अकृताभ्यागमादि दोषको भी निवृत्ति होजाती है, परन्तु यह अध्व समीचीन नहीं है। यदि संवित्को ही आत्मा स्वीकार किया जावे तो पहले दिन मैंने जिस पदार्थको देखा था दूसरे दिवस मैंने उसे ही देखा था, यह प्रत्यभिज्ञा कैसे सिद्ध होसकती है। क्योंकि संवित् संतान के द्वारा तो वह सिद्ध हो नहीं सकती क्योंकि संवित्के अति-रिक्त कोई स्थायी अनुसन्धाता तो आप मानते नहीं हैं। यदि मानें तो स्वसिद्धान्त हानि और परमत प्रवेश होजाता है, तथा इसे माने विना उपर्युक्त प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होसकती है। अन्य से अनुभूत वस्तुमें अन्यकी प्रत्यभिज्ञा हो ही नहीं सकती है, और सम्वित् सन्तान भी सिद्ध नहीं होता। तुम्हारे मतमें सर्वं क्षणिकं यह सब कुछ क्षणिक ही है। जिस क्षणमें मया इदं सुकृत-माचरितम् मैंने यह अच्छा कर्म किया, इस ज्ञानकी सत्ता है उसके दूसरे क्षणमें यदि वह ज्ञान नष्ट होगया तो सन्तान कहाँसे आये? यदि प्रथम क्षणमें ही सन्तानका आरम्भ होगया है तो उसका आश्रय कौनसा ज्ञान है, क्योंकि द्वितीय संवित् तो द्वितीय क्षणमें उत्पन्न होगी। यदि कहो कि उस सन्तानका आश्रय भी वही पूर्वक्षणिक हैं तब तो उसके नष्ट होने पर सन्तान भी नष्ट

होजायगा। जैनका मत दिखाते हैं कि जैन आत्माको मध्यम परिमाण ही मानते हैं। नैयायिक और अद्वैत बृहत्परिमाण मानते हैं। विद्विशिष्टवादी अणु ही मानते हैं। इदानीम् जैनमतकी समालोचना करते हैं। इस जीवको मध्यम परिमाणयुक्त मानने में अनित्यत्वादि अनेक दोष होते हैं, कारण यह है कि मध्यम-परिमाणवादीके मतमें देहपरिमाण ही मानना पड़ेगा। तब हस्ती के शरीरमें जो जीव है वह जब निज प्राचीनकर्मवशात् पिपीलिकाके देहमें प्रविष्ट होगा तब उसके कतिपय भाग नाश हो जायँगे। यदि मध्यमवादी संकोच और विकाशकी शरण ले अर्थात् जैसे तूलिका पहले विस्तृत होती है और कसने पर उसके अवयव संकुचित होजाते हैं, इसी प्रकार जीवका परिमाण भी होजायगा। तथा संकोच और विकास सावयव पदार्थमें ही माने जा सकते हैं, दृष्टान्तके साधर्म्यसे निरवयवमें नहीं। और जो जो सावयव होता है वह अनित्य होता है यह नियम है। जैसे घट सावयव होनेसे अनित्य है। निरवयव मानो और मध्यम परिमाण भी यह वचन व्याहत है। अतः अणुपरिमाण ही मानना आवश्यक है और श्रुतिसम्मत भी है। यह श्रुति है एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः। आराग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। यहाँ पर यह प्रश्न होसकता है कि जीवका यदि अणुपरिमाण माना जाय तो हृदादि किसी एक देशमें स्थिति स्थापक माननी पड़ेगी। तब मेरे शिरमें वेदना होती है, मेरे पैर दुखते हैं इत्यादि प्रतीतियों की अनुपपत्ति होगी अतः विभु व्यापक मानना ही आवश्यक और वेदप्रमाण भी है। इयम् श्रुतिः—नित्यस्सर्वगतः। इस श्रुतिमें जीवके विभुत्वका प्रतिपादन किया है, क्योंकि शरीरविशिष्ट

जीवका देशान्तरमें गमन होने पर ही ज्ञान और सुख दुःखादि की उपलब्धि होती है। शरीरनिर्वाह के लिये ही चेतनात्मा का जो गमनागमन होता है सो लाक्षणिक व्यवहार होता है घटा- काशकी तरह अतः विभुत्व मानना ही समुचित है। आत्माका अणुत्व मानना ही असंगत और अश्रुति है। उत्तर—एषोऽणु- रात्मा चेतसा वेदितव्यो बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः। बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवस्स विज्ञेयः। इत्यादि वेदवाक्योंमें निरूपित जीवके अणुत्व की ही सिद्धि होती है। नित्यस्सर्वगतः इस वचनमें जीवका विभुत्व सिद्ध नहीं होसकता है। क्योंकि यह वेदवाक्य जातिको लेकरके कथन करता है, किन्तु विभुबोधक वाक्य नहीं है। जैसे अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः। वायुस्सर्वगतो महान्। एक ही अग्नि समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट है और एक ही वायु निखिल भुवनोंमें संचार करता है। इसी तरहसे जीव अपने समान और अपने स्वरूपसदृश सम्पूर्ण जगत्में निवास करता है। इस वेद- वचनसे यही सिद्ध हुआ कि स्वसमान और स्वस्वरूप सदृश नाना जीव सर्वगत हैं। एक ही अग्नि और एक ही वायु नहीं है किंतु सजातीय अग्नि और वायु हैं, वैसे ही सजातीय जीव सर्वत्र है। पूर्वपक्ष—एषोऽणुरात्मा इस वाक्यमें अणुवाच्य जीवका बोधक नहीं है किन्तु परमात्मा ही इन्द्रियजन्य ज्ञानका अविषय होनेसे ही परमात्माको ही अणु शब्दसे वेदवाक्य ईरित करता है। क्योंकि न चक्षुषा गृह्यते वापि। परमात्मा चक्षुरिन्द्रियोंसे ग्रहण करने में नहीं आता है इसी लिये वेद कथन करता है कि चेतसा वेदि- तव्यः। परमात्मा इन्द्रियजन्य ज्ञानका अविषय होनेसे शुद्ध मन

से ही जानने में आता है, ऐसे नहीं कह सकते हो क्योंकि यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश । जिस जीवमें पाँच तरहका पञ्चप्राण ओतप्रोत है । पूर्वपक्ष—इस वेदवचन में यत् शब्दका प्रयोग होनेसे एतत् शब्दका परामर्श होता है, अर्थात् इस वचन में भो परमात्माका ही ग्रहण होता है जीवमें नहीं । उत्तर-तुम ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि—यस्मिन् द्यौः पृथिवी चांतरीक्षमोतं मनः प्राणैश्च सर्वैः । जिस ब्रह्ममें द्यौ पृथिवी अंतरिक्ष पञ्चप्राणके सहित मनस्यूत है क्योंकि ब्रह्मके विषयमें तो विशेष रूपसे वेद प्रतिपादन करता है, और जीवमें सामान्यभावसे ही ईरित वेद करता है। अर्थात् जीवमें पंचप्राण और इन्द्रियगण ओतप्रोत हैं क्योंकि जीवमें सर्वाधारकताका अभाव ही है। और प्राणेन्द्रियोंके धारण करनेमें जीवका असाधारण धर्म अर्थात् विशेषता धर्म है किन्तु इतने के ही धारण सामर्थ्य है । ब्रह्म विषय में तो महत् शब्द का प्रयोगरूपसे वेदाह्वान करता है । बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम् । इस प्रमाणसे यही निश्चय हुआ कि ब्रह्म बृहत् अचिन्त्य और दिव्य रूप वाला है। एषोऽणुरात्मा इस वचनमें तो अणुशब्दवाच्य जीवमें ही समीचीन अर्थ है। पूर्वपक्ष—इस वाक्यमें चेतसा अणु ऐसे कथन होनेसे अन्तःकरणोपाधि ही अणुशब्दसे प्रतिपादित होता है । उत्तर-इस वचनमें चेतसा वेदितव्यः चित्तसे अर्थात् ज्ञानसे जानने योग्य ही जीव है ऐसे ही सान्वय होनेसे वाक्यका अर्थ सुष्ठुतर है । जीवात्मा विभु नहीं होसकता है क्योंकि क्रिया वाला होनेसे घटादि की तरह इस अनुमानसे भी विभुत्वका बाध होजाता है । और शब्द गमकसे भी सिद्धि न होगी क्योंकि तेन प्रद्योतेनैष आत्मा

निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव सर्वे गच्छन्ति। तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे। आत्माके तो शरीर से निकलना और चन्द्रलोकमें जानेका विधान होरहा है। पुनः इन्दुलोकसे आगमनका विधान श्रुति कहती है। जाना आना और निवास ये तीन ईरित विभुवादमें कैसे होसकता है। और सुनिये तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति। इत्यादि वेदवाक्य में जीवोत्क्रमणजन्य उत्क्रमणका आश्रय प्राणमें प्रतीति होनेसे जीवकी क्रियाका आवश्यक ही है। और विभुवादमें दूसरा और दोष है कि प्रत्यक्ष कारणमें आत्मा और मनका साथ संयोग होनेसे ही ज्ञानोपलब्धि होती है सो तो सबके सबका साथ संयोग ही है तब तो सबके सबका सुख दुःखादिका अनुभव होना चाहिये सो तो कहाँ होता है अतः विभु नहीं है किन्तु अणु ही है। इसके आगे प्रकृति विचार।

❀ अथ अचित् प्रकरणम् ❀

प्रधानाज्जायते सर्वम्। अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः। अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। गौरनाद्यन्तवती। जिसमें ज्ञानाभाव हो और विविध विकारास्पद हो वह अचित् प्रकृति प्रधान बहुधानक माया और ब्रह्म इत्यादि वाक्योंसे कही जाती है। वह तीन भेद वाली है। शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य। शुद्धसत्त्व उसे कहते हैं कि

जो रजस्से शून्य केवल सत्त्वरूप है, नित्य है, प्रत्ययजनक है, आनन्दजननी है, ईश्वरेच्छामात्रसे विमान गोपुर मण्डप प्रासाद आदि रूपसे भोगस्थानरूपमें परिणत होता है। भगवच्छरीरादि रूपसे भोग्य भी है। चन्दन कुसुम वस्त्र आभूषण आयुध आदि रूपसे भोगका साधन भी होता है। निःसीम तेजोरूप है, नित्य जीव मुक्त और ईश्वर भी जिसका परिच्छेद नहीं कर सकते और स्वयंप्रकाशरूप है। प्रश्न—यदि मुक्त और ईश्वर भी इसका परिच्छेद नहीं कर सकते तो इनकी सर्वज्ञतामें दोष आवेगा क्योंकि वस्तुमात्रका ज्ञान प्राप्त करना ही सर्वज्ञता है। उत्तर—जो पदार्थ जैसा हो, जितना बड़ा हो, उसको वैसा ही और उसी रूपमें जाननेका नाम सर्ववित् है। शुद्धसत्त्व अपरिच्छेद्य है, इस रूप से ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है। इयत्ताशून्य वस्तुकी इयत्ता न जाननेसे सर्वज्ञतामें बाध नहीं आता प्रत्युत गुणरूप होजाता है। प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि शुद्धसत्त्व नित्य और ज्ञानजनित्यादि है। उत्तर—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। त्रिपादस्यामृतं दिवि। तमश्शब्देनाविद्या। तमसरूपरि विभाति। क्षयं तमस्यरजसः पराके। तमस्तु पारे तमसः परस्तात्। पंचशक्तिमये दिव्ये शुद्धसत्त्वे सुखाकरे। नित्यमनादिनिधनम्। तदक्षरे परमे व्योमन्। आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्। सहस्रास्थूणे विमिते दृढ उग्रे यत्र देवानामधिदेव आस्ते। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः इत्यादि श्रुति स्मृति इस विषयमें प्रमाण हैं। प्रश्न—यदि यह स्वयंप्रकाशस्वरूप है तो क्या कारण

है कि नित्य, मुक्त और ईश्वरको ही इसका भास होता है अन्य संसारी जीवोंको नहीं ? उत्तर—जैसे सर्वात्माओंका स्वरूप और ज्ञान स्वयंप्रकाश है तो भी अपनेको ही वह प्रकाश प्रतीत होता है, अन्योंको तो वह ज्ञानान्तरवेद्य है। तथा जैसे धर्मभूत ज्ञान स्वाश्रयके लिये ही स्वयंप्रकाश है अन्योंको नहीं, वैसे ही यदि यह भी नियतविषयमें हो स्वयंप्रकाश हो तो कोई क्षति नहीं है। तथा जिस प्रकारसे धर्मभूतज्ञानक वह शक्ति जिसके द्वारा आत्म-प्रकाश होता है कर्मविशेषसे प्रबद्ध होजाती है वैसे ही शुद्ध सत्त्व की भी आत्मप्रकाशनशक्ति बद्धदशामें संसारी जीवोंके लिये प्रतिबद्ध रहती है। अतः शुद्ध सत्त्व बद्ध जीवोंको, संसारी जीवों को प्रकाशित नहीं होता है। प्रश्न-यदि शुद्ध सत्त्व स्वयंप्रकाश है तो आत्मा और ज्ञानसे इसमें क्या अन्तर है क्योंकि ये दोनों भी स्वयंप्रकाश हैं। उत्तर—अहमस्मि इस प्रकारसे आत्माको जैसे अहम्प्रतीति होती है वैसे शुद्ध सत्त्वको अहंप्रतीति नहीं होती प्रत्युत इदन्त्वेन प्रतीति होती है। आत्मा शरीररूपसे परिणत नहीं होता है, ऐसे ही ज्ञान भी शरीरादिरूपसे परिणत नहीं होता है, और यह होता है। ज्ञान शब्द स्पर्श आदि विषयोंका आश्रय नहीं है परन्तु उनका ग्राहक है और शुद्ध सत्त्व स्वयं शब्द स्पर्श आदि का आश्रय है, अतः उन दोनोंसे शुद्ध सत्त्वका भेद है। इस शुद्ध सत्त्वको कितने ही विद्वान् जड़ मानते हैं और कितने हो अजड़ मानते हैं, परन्तु जड़ मानना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि कोई भी अजड़ शरीरादि रूपसे परिणत होता नहीं देखा जाता है, और जड़ होनेसे ही शुद्ध सत्त्वकी अहन्त्वेन प्रतीति नहीं होती है किन्तु इदन्त्वेन होती है। ऐसे कितनोंका यह भी मत है कि यह सर्वथा स्वयंप्रकाश भी नहीं है, केवल निरतिशय प्रकाशके सम्बन्धसे ही इसे स्वयंप्रकाश कहा जाता है। ऐसे ही यह आनन्दस्वरूप

भी नहीं है, परन्तु अत्यन्त अनुकूल रूप रस गन्धादिके सहवास से ही इसे आनन्द भी कहते हैं। प्रश्न-यदि यह शुद्ध सत्त्व शरीर आदिरूपसे परिणत होता है तो मुक्तात्माओंको भी शुद्ध सत्त्व परिणत शरीर प्राप्त होता है या नहीं। उत्तर—प्राप्त होता है। प्रश्न-यदि मुक्तात्माओंको भी शरीरप्राप्ति मानेंगे तो अशरीरं वा वसन्तम् इस श्रुतिसे विरोध नहीं होगा? उत्तर-नहीं कोई विरोध नहीं। यह श्रुति केवल कर्मकृत शरीरपरिग्रहका निषेध करती है, अप्राकृत शरीरप्राप्तिका नहीं। ऐसे ही इन्द्रियच्छिद्रविधुरा द्योतमानाश्च सर्वशः। इसका भी कर्मकृत इन्द्रियाभावमें ही तात्पर्य है। प्रश्न—क्या वह शरीर भी नित्य ही होते हैं? उत्तर—नित्य भी होते हैं और अनित्य भी। जो शरीर नित्येच्छासे परिगृहीत हुए हैं वे नित्य होते हैं, जो अनित्येच्छासे परिगृहीत होते हैं वह अनित्य होते हैं। परन्तु वहाँके इन्द्रिय तो सब नित्य ही हैं, क्योंकि वह किसी उपादानकी अपेक्षा नहीं रखते हैं। उन इंद्रियों मेंसे भी कितने ही तो नित्य जीवोंद्वारा और ईश्वरद्वारा नित्यपरिगृहीत हैं, परन्तु मुक्त जीवोंके लिये नित्यपरिग्रहका नियम नहीं है। वह तो जैसे कभी सशरीर और कभी अशरीर रहते हैं, वैसे ही कभी सेन्द्रिय और कभी निरिन्द्रिय भी रहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुक्त जीवोंका शरीरपरिग्रह केवल भगवत्प्रीत्यर्थ होता है। कभी वह शरीर वसन्तोत्सव रूपमें होता है, कभी आभूषणरूपमें होता है, कभी स्रक् चन्दनादिरूपमें होता है। उस समय इन्द्रियकी आवश्यकता नहीं होती है। जैसे मुमुक्षुजनोंकी उपासनासिद्धिके लिये तथा स्वशेषभूत नित्य और मुक्त जीवों के आनन्दके लिये भगवान् शरीर धारण करते हैं, वैसे ही भगवत्प्रीत्यर्थ मुक्तजीव भी शरीर धारण करते हैं। यहाँ इतना

ध्यान रहे कि भगवान्का शरीर तो भगवत्संकल्पाधीन ही रहता है परन्तु नित्य और मुक्तोंका शरीर कभी तो केवल भगवत्संकल्पा-धीन होता है और कभी भगवत्संकल्पानुप्राणित स्वसंकल्पाधीन होता है। मिश्रसत्त्व रजस् और तमस्के साथ मिश्र होकर रहने वाले सत्त्वको मिश्रसत्त्व कहते हैं। यह बद्ध जीवोंके ज्ञान और आनन्दका तिरोधान करने वाला है, ज्ञानका विरोधी है, विप-रीत ज्ञानका उत्पादक है, नित्य है, ईश्वरकी क्रियाका साधन है। इसीके द्वारा पुरुषेश्वर अपनी लीला करते हैं। जब जीव इस मिश्रसत्त्वके जालमें फँस कर प्रतिकूल ज्ञानवान् बन जाता है तब अनेक प्रकारके कर्म करने लगता है। वह कर्म ही बन्धन है। उन कर्मोंके अनुसार सुख दुःखादि फल देना सर्वेश्वरका नियत है। इसी स्वभावप्रवृत्तिको भगवल्लीला कहा जाता है। सम और विषम विकार भी इसी मिश्रसत्त्वमें उत्पन्न होते हैं। जिसमें नाम और रूपका विभाग न होसके ऐसे सूक्ष्मविकारको सदृशविकार या समविकार अथवा विषमविकार, नामरूपका विभाग होसके ऐसे स्थूलविकारको विसदृशविकार अथवा विषमविकार कहते हैं। अव्यक्तदशामें सब विकार सम ही होते हैं। महान्से लेकर जो विकार उत्पन्न होते हैं वह विषम होते हैं। प्रलयकालमें अविभक्तरूपसे रहनेके कारण गुणवैषम्य नहीं होता है। गुणवैषम्य न होनेके कारण विषमविकार उत्पन्न नहीं होते हैं। सृष्टिकालमें भगवत्संकल्प द्वारा विभक्त होकर यह कार्योन्मुख होजाता है, तब गुणवैषम्य भी उत्पन्न होता है। गुणवैषम्य होने पर विषमविकार उत्पन्न होने लग जाते हैं। इसी मिश्रसत्त्वको अशुद्ध सत्त्व भी कहते हैं। इसीको रजोगुण वाला तमोगुण वाला और महदादि अवस्थाकी योग्यता वाला त्रिगुण कहते हैं। परस्पर विलक्षण और आश्चर्यजनक कार्यरूप विचित्र

सृष्टिका साधनीभूत होनेके कारण इसका नाम माया भी है। विविध विकारोंको उत्पन्न करता है अतः यही प्रकृति नामसे कहा जाता है। विद्याविरोधी होनेसे इसे अविद्या भी कहते हैं। यही त्रिगुण मूलप्रकृति, महान् अहंकार, एकादश इन्द्रिय, पञ्च-तन्मात्रा और पञ्चभूत इस प्रकारसे २४ तत्त्व कहा जाता है। पहला तत्त्व प्रकृति है। श्रीहरिकी लीलाका प्रधान साधन होने से इसे प्रधान भी कहते हैं। गुणविभागके व्यक्त न होनेसे इसे अव्यक्त भी कहते हैं। इस प्रकृतिकी तीन अवस्थायें हैं। १ अविभक्ततम, २ विभक्ततम और ३ अक्षर। अक्षरावस्था की निवृत्ति होजाने पर तमःशब्दवाच्यता आती है। उस समय उस तममें नामरूपविभागकी योग्यता नहीं रहती है। अतः प्रधान-पुरुषेश्वर भगवान्में उसका एकीभवन होजाता है। इसीका नाम है अविभक्ततम। जब इसमें ऐसा विभाग होता है कि नाम और रूपके विभागकी योग्यता आजाती है और यह कार्योन्मुख होजाता है तब इसे विभक्ततम कहते हैं। जब तमकी अत्यन्त सूक्ष्मावस्था निवृत्त होजाती है और यह पुरुष है और यह अचित् है इस प्रकारका विभाग जब नहीं किया जासकता तब उसे अक्षर कहते हैं। प्रकृतिमें जब गुणवैषम्य प्राप्त होता है तब महद् आदि विकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिके सत्त्वादि तीन गुण हैं। ये तीनों प्रकृतिके स्वभावविशेष हैं, और कार्य से ही जानने योग्य हैं। प्रकृत्यवस्थामें ये तीनों गुण अनुद्भूत–अप्रकट रहते हैं, और विकारदशामें उद्भूत–प्रकट होजाते हैं। सत्त्व-गुणसे ज्ञान सुख और दोनोंका सम्बन्ध उत्पन्न होता है। रजो-गुणसे स्त्री और पुरुषका परस्पर स्पृहारूप राग, शब्दस्पर्शरूप इत्यादि विषयोंमें स्पृहारूप तृष्णा और पुत्र मित्रादिके संश्लेषका स्पृहारूप संग पैदा होते हैं। तमोगुणसे विपरीत ज्ञान, प्रमाद,

आलस्य और निद्रा उत्पन्न होती है। सुखमें दुःख और दुःखमें सुख, पुण्यमें पाप और अहंमें पुण्यकी प्रतीतिका नाम है विपरीत ज्ञान। जब इन गुणोंकी साम्यदशामें विकार उत्पन्न होते हैं, तब वह किसी भी प्रमाणसे बताये नहीं जासकते क्योंकि अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं। परन्तु जब गुणोंमें विषमता उत्पन्न होजाती है तब जो प्रकृतिके विकार होते हैं वह प्रमाणोंसे जानने जनानेके योग्य होते हैं क्योंकि वे स्पष्ट होते हैं। विषमविकार जब प्रकृतिमें उत्पन्न होते हैं तब प्रथम विकारका नाम महान् कहा जाता है। इसीको महत्तत्व और सूत्र भी कहते हैं। इस महत्तत्त्व को बुद्धिरूप माना जाता है अतः यह अध्यवसायका जनक होता है। यह तीन प्रकारका होता है, सात्त्विक-महत्तत्त्व, राजसमहत्तत्त्व और तामस महत्तत्त्व। इस महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है, जो देहात्माभिमानादिको उत्पन्न करता है। यह भी तीन भेदसे होता है, सात्त्विक राजस और तामस अहङ्कार। इन्हीं तीनोंको वैकारिक तैजस और भूतादि भी कहते हैं। इसी वैकारिक अर्थात् सात्त्विक अहङ्कारसे एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। किन्हीं आचार्यका मत है कि राजस अहङ्कारसे इन्द्रियगण उत्पन्न होते हैं, और कोई राजस अहङ्कार सहकृत सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोत्पत्ति मानते हैं। परन्तु इनके मतमें राजस अहङ्कार सहकृत सात्त्विक अहङ्कारका ही नाम वैकारिक है। एकादश इन्द्रियोंके नाम ये हैं—चक्षुरिन्द्रिय अध्यात्म है, रूप अधिभूत है, चक्षु गोलकगत सूर्यका अंश अधिदैवत है। ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं। किन्तु आकाशमें जो सूर्यभगवान् हैं वे स्वतःसिद्ध हैं। उसी प्रकार आत्मा जो इन सब भूतादि विकारोंसे पृथक् है और इनका आदि कारण है अपने स्वयंसिद्ध प्रकाशसे इन समस्त प्रकाशोंका भी प्रकाशक

है। इसी प्रकार त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श अधिभूत है, वायु अधिदेव है। श्रवण अध्यात्म है, शब्द अधिभूत है, दिशा अधिदेव है। जिह्वा रस और वरुण है। नासिका गन्ध और अश्विनीकुमार है। चित्त चेतयितव्य और वासुदेव है। मन मन्तव्य और चन्द्रमा है। अहङ्कार अहंकर्त्तव्य और रुद्र है। बुद्धि बोद्धव्य और ब्रह्मा अधिदैव है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और चतुष्टय अन्तःकरण दिखाये। अब वाक् अध्यात्म, वचन व्याहरण अधिभूत और अग्नि अधिदैव है। पाणि ग्रहण और इन्द्र है। पाद गमन और विष्णु है। पायु मलोत्सर्जन और मृत्यु है। उपस्थ आनन्दयितव्य और प्रजापति है। ये कर्मेन्द्रिय हैं, मन उभयात्मक इन्द्रियोंमें रहता है, अतः मन भी ज्ञानेन्द्रिय ही है। इसका बुद्धि अहङ्कार और चित्त आदि भी नाम है। यद्यपि वह भी कर्मका कारण होनेसे कर्मेन्द्रिय कहा जाना चाहिये परन्तु वह कर्मेन्द्रिय इस लिये नहीं है कि वह साक्षात् कर्मका हेतु नहीं है किन्तु ज्ञान द्वारा हेतु है। यदि ज्ञानद्वारा भी कर्म हेतु होनेसे उसे कर्मेन्द्रिय माना जावे तो चक्षुरादि इन्द्रिय भी कर्मेन्द्रिय कहे जाने चाहियें, क्योंकि ज्ञान द्वारा कर्मके हेतु तो वे भी हैं। मानसं कर्म, मानस कर्म यह जो व्यवहार होता है इससे भी मनको कर्मेन्द्रिय नहीं कह सकते क्योंकि मानस कर्ममें जो कर्म शब्दका व्यवहार होता है वह शुभ और अशुभ संकल्परूप ज्ञानका वाचक है, कर्मका वाचक नहीं। मन तथा अन्येन्द्रियोंका भी कन्दस्थान—मूलस्थान हृदयप्रदेश है। अमुक २ नाड़ियोंके द्वारा चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्गोलकमें जाकर श्रोत्रपुट में जाकर इसी प्रकारसे अन्य इन्द्रिय उस २ स्थानमें जाकर दर्शन श्रवणादिका कार्य करते हैं। यह नियम नहीं है कि श्रोत्रेन्द्रिय श्रोत्रमें ही रहकर अपना काम करे और चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्गोलकमें रहकर ही काम करे। इसी लिये मनुष्योंका श्रोत्रे-

न्द्रिय कर्णशष्कुलिसे अवच्छिन्न प्रदेशमें रहकर शब्दग्रहण करता है और सर्पोंका श्रोत्रेन्द्रिय नयनवृत्ति होकर शब्द ग्रहण करता है। इसी लिये उसका नाम चक्षुश्रवाः पड़गया है। श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्दको ग्रहण करता है। चक्षुरिन्द्रिय केवल रूपको ग्रहण करता है। घ्राणेन्द्रिय केवल गन्धको ग्रहण करता है। जिह्वेन्द्रिय केवल रसको ही ग्रहण करता है। जिह्वेन्द्रियको ही रसनेन्द्रिय भी कहते हैं। त्वगिन्द्रिय केवल स्पर्शको ग्रहण करता है। वागि-न्द्रियसे वर्णोंका उच्चारण किया जाता है। वागिन्द्रिय हृदय, कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, दन्त, ओष्ठ नासिका और मूर्धा इन आठ स्थानोंमें रहता है। जो मृगादि पशु बोल नहीं सकते हैं सम-झना चाहिये कि उनके अदृष्टके न होनेसे वागिन्द्रिय उन्हें नहीं मिला है। जिससे शिल्पादि किये जावें उसे हस्तेन्द्रिय कहते हैं। वह हस्तेन्द्रिय मनुष्यादिकोंके तो अंगुलियोंमें रहता है परन्तु हस्ती आदिकी नासिकामें रहता है। जिस इन्द्रियोंसे चला जावे उसका नाम पादेन्द्रिय है। वह इन्द्रिय मनुष्यादिके चरणमें रहता है और सर्पपतंगादिके उरःस्थलमें रहता है। जिस इन्द्रियसे मलका त्याग किया जावे उसे पायु इन्द्रिय कहते हैं। वह मनु-ष्यादिके जंघाके पास रहता है और मान्थाल (एक छोटासा जन्तु) के मुखमें रहता है। वह मुखसे ही मलत्याग करता है। आनन्दविशेष अर्थात् विषयानन्द जिससे प्राप्त हो उसका नाम उपस्थेन्द्रिय है। वह सबके मूत्रेन्द्रियमें रहता है। कदाचित मयूरी आदिका वह इन्द्रिय अन्य अवयवमें रहता होगा क्योंकि वह मयूरके नृत्यके समय पतित वीर्यको खा जाती है और उसीसे उसे सन्तोष होजाता है और गर्भाधान भी होजाता है। ऐसा ऐहिक प्रमाण है वा जनश्रुति है। वैज्ञानिकोंका मत है कि शरीर के साथ ही इन्द्रियका भी नाश होजाता है परन्तु श्रुति ऐसा

नहीं मानती है। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति। वायुर्गन्धानिवाशयात्। इत्यादि चोदना प्रतिचोदनाके प्रमाणों से यही जाना जाता है कि प्राणोंके साथ ही सब इन्द्रिय शरीर से बाहर निकल जाते हैं। बाहर निकलना तभी सम्भव हो सकता है यदि इन्द्रियोंको भी जीवके समान अणुपरिमाण वाला माना जावे। अतः अणवश्च। श्रुतिके अनुरोधसे इन्द्रियों को अणु माना जाता है। परकायप्रवेशके समय वा लोकान्तर गमन के समय इन्द्रिय भी जीवके सह चले जाते हैं। इन्द्रियगण दो तरहके होते हैं, स्थूल और अणु। अणु इन्द्रिय अहङ्कारिक होती हैं, स्थूलेन्द्रिय भौतिक होती हैं। स्थूलेन्द्रिय अणुरिन्द्रियकी सत्तासे ही सत्ता वाले प्रतीत होते हैं। अणुरिन्द्रिय दीखनेमें नहीं आते हैं। स्थूलेन्द्रिय अनित्य हैं अर्थात् भस्मादिक होजाते हैं। अणुरिन्द्रिय प्राकृत होनेसे मोक्षमें तो जा नहीं सकते हैं, अतः जब तक सृष्टिका प्रलय न हो तब तक वे यहाँ ही विचरते रहते हैं। प्रश्न—मोक्षमें क्यों नहीं जासकते हैं? उत्तर—जीवका मोक्ष अप्राकृत लोकमें होता है, इन्द्रिय प्राकृत होनेसे वहाँ इनको अनधिकार है अतः। अथवा इन्द्रियरहित बहुतसे जन्तु हैं जैसे जलौका भूनाग इत्यादि इनको मिलजाता है। कोई मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय जीवके सह जाते हैं और कर्मेन्द्रिय यहाँ ही रहते हैं। कोई मानते हैं कि दोनों ही इंद्रिय जीव के साथ जाते हैं और किन्हीं का मत है कि दोनों ही नहीं जाते, सब यहाँ ही शरीरके साथ भस्म होजाते हैं, क्योंकि इंद्रिय शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यदि शरीरसे भिन्न कोई वस्तु है तो वह शरीरसंनि-योगसे ही उत्पन्न हुआ है अतः शरीरके अभावमें उसका भी अभाव होजाता है। परन्तु यह अयुक्त विचार है क्योंकि दोनों

से सिद्धि नहीं होती है। यदि होती है तो गौरव है, साथ अनू-त्क्रमणसे लाघव है और श्रुतिस्मृतिसम्मत भी है। भूतादि-तामस अहङ्कारसे राजस अहङ्कार सहकृत भूतादि संज्ञक तामस अह-ङ्कारसे पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। तामस अहंकारसे शब्दतन्मात्रा उत्पन्न होती है। आकाशकी सूक्ष्मा-वस्थाका नाम शब्दतन्मात्रा है। उस शब्दतन्मात्रासे आकाश उत्पन्न होता है। आकाशका शब्द गुण है और चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है क्योंकि इसका नीलरूप प्रत्यय होता है। नैयायिक लोग आकाशको अजन्य और नित्य मानते हैं परन्तु वेदमतसे असत् पक्ष है। एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः इत्यादि प्रमाणभूत से। यह शब्दतन्मात्राकी स्थूलावस्था है। वायुसे सूक्ष्मावस्थारूप स्पर्शतन्मात्रा पैदा होती है। उस स्पर्श-तन्मात्रासे स्थूलावस्थारूप वायु उत्पन्न होता है। वायुके शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। तेजसे रूपतन्मात्रा उत्पन्न होती है, वह तेजकी सूक्ष्मावस्था है। उस रूपतन्मात्रासे स्थूलावस्थारूप तेज उत्पन्न होता है। इसमें तीन गुण हैं-शब्द, स्पर्श और रूप। अप् से रसतन्मात्रा उत्पन्न होती है। उस रसतन्मात्रासे स्थूलावस्था रूप जल उत्पन्न होता है। इसमें चार गुण हैं-शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथिवीसे गंधतन्मात्रा उत्पन्न होती है, यह पृथिवी की सूक्ष्मावस्था है। उस गंधतन्मात्रासे स्थूलारूपावस्था पृथिवी उत्पन्न होती है। इसमें पाँच गुण हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। उत्पन्न होने वाले भूतोंकी अव्यवहित पूर्व अवस्था-सबसे पूर्वावस्था-का नाम तन्मात्रा कहा जाता है। कपाल चर्म अन्त्रा अस्थि मांस नख ये सब पृथिवीके अंशसे हैं। रक्त मूत्र लाल स्वेद ये सब जलके अंशसे हैं। क्षुत् तृष्णा उष्ण मोह मैथुन ये सब अग्निके अंशसे हैं। प्रचारण उत्तारण श्वास ये सब वायुके अंश

से हैं। काम क्रोध लोभादि ये सब व्योमके अंशसे हैं। पञ्चभूतोंके तुरीय भाग अर्थात् चतुर्थ भागके रजोगुणसे कर्मेंद्रिय होते हैं, वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ ये हैं। वचन दान गमन विसर्ग आनन्द ये विषय हैं। पञ्चभूतोंके सत्त्वांश भागत्रयसे अन्तःकरण होते हैं, मन बुद्धि चित्त अहंकार ये हैं। संकल्प निश्चय स्मरण अभिमान ये इनके विषय हैं, गल वदन नाभि हृदय भ्रू इन स्थानोंमें रहते हैं। पञ्चभूतोंके सत्व तुरीयभागसे ज्ञानेंद्रिय होते हैं, श्रोत्र त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राण ये हैं। शब्द स्पर्श रूप रस और गंध ये इनके विषय हैं। अपञ्चीकृत महाभूतोंके रजोंशभागत्रयसमष्टि प्राणोंको उत्पन्न करता है, प्राण अपान व्यान उदान और समान ये हैं। नाग कूर्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय ये उपप्राण हैं, हृद् आसन नाभि कण्ठ और सर्वाङ्गमें रहते हैं। अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय ये पञ्चकोश हैं। अन्न रससे ही होकर अन्नरससे वृद्धिको प्राप्त होनेसे अन्नमय कोश कहा जाता है, वही स्थूलशरीर है। कर्मेन्द्रियोंके संश्लेष होनेसे और पञ्च प्राणोंके साथ सम्बंधपूर्वक ही होनेसे प्राणमय कोश कहा जाता है। ज्ञानेंद्रियोंके साथ और मनका सम्बंध पूर्व होनेसे मनोमय कोश कहा जाता है। ज्ञानेन्द्रियके साथ और बुद्धिके संश्लेषपूर्व होनेसे विज्ञानमय कोश कहा जाता है। प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय इन तीन कोशोंसे विशिष्ट लिंगशरीर कहा जाता है। चार कोशविशिष्टपूर्वक अपने स्वरूपका परिचय होनेसे ही आनंदमयकोश कहा जाता है। यही कारणशरीर है। ज्ञानेन्द्रियपञ्चकम्, कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, प्राणादिपञ्चकम्, विषयादिपञ्चकम् अंतःकरण चतुष्टयम्। काम कर्म तमविशिष्ट होकर इन आठसे शरीर बना है। अथ पञ्चकरणप्रक्रिया। पञ्चभूतोंमें से एक एक भूत को लेलो और उसके दो समान भाग कर डालो। उन दो भागों

मेंसे एक एकको तो जहाँका तहाँ रहने दो परंतु दूसरा जो भाग है उसके चार समान भाग कर लो। जिस भूतके चार भाग किये गये हैं उसको छोड़ कर शेष जो चार भूत हैं उनमें एक २ भाग मिलाते जावो। इसी प्रकारसे सब भूतोंके भाग कर लेने चाहियें और सबको सबमें मिला लेना चाहिये। इस भूतसम्मेलनका नाम है पञ्चीकरणप्रक्रिया। इसी पञ्चीकरणप्रक्रियाके द्वारा भूतों में शब्दादि गुणकी प्रतीति होती है, अन्य सब व्यवहार भी इसी प्रक्रियासे चलाये जाते हैं। पृथिवी आदि समस्त भूतोंमें यद्यपि सब भूत मिले हुये हैं तथापि किसीको पृथिवी और किसीको जल आदि ही इसी लिये कहा जाता है कि पृथिवीमें पृथिवीका ही भाग अधिक है और अन्य तत्त्वोंके भाग बहुत अल्प हैं। ऐसे ही जलादिके विषयमें भी जानना चाहिये। कोई २ सप्ती-करण प्रक्रिया भी मानते हैं। वे पञ्चभूतोंमें महत्तत्त्व और अहं-कारको भी मिला लेते हैं। और कहीं त्रिवृत्तकरणका उल्लेख है, इस पक्षमें पृथिवी अप् और तेज। अण्डोत्पत्तिसे पूर्व सृष्टिका नाम समष्टि सृष्टि कहा जाता है। अण्डोत्पादनके अनंतर सृष्टि का नाम व्यष्टि सृष्टि कहा जाता है। यह सृष्टि क्यों की जाती है? इस कार्यप्रपञ्च की उपादानप्रकृति, इसका अधिष्ठान पुरुष और अभिव्यञ्जक काल ये तीनों शुद्ध ब्रह्मरूप में ही हूँ इन सब का आदि उपादान कारण हूँ। जब परमात्मा की दृष्टि रहती है तब तक जीवकृत कर्मोंके फल भोगनेके लिये पितृपुत्रपरम्परासे यह संसार निरंतर चलता रहता है। यह उत्पत्ति नाशशील संसार जो विराट्रूपसे स्थित है, प्रलयकालके आने पर अपने सातों भुवनों के सहित पञ्चत्व को प्राप्त होजाता है—अर्थात् इसके पञ्चीकृत भूत स्वस्वकारणमें लीन होने लगते हैं। उत्पत्ति का क्रम ऊपरसे लिया जाता है और प्रलयका क्रम नीचेसे लिया

जाता है। समस्त प्राणीका शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गंधमें, रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें। पञ्चतन्मात्रा स्वकारणभूत अहंकारमें और इंद्रियगण अपने कारण अहंकारमें, अहंकार अपने कारण महत्तत्वमें, महत्तत्व स्वकारण प्रकृतिमें और प्रकृति अजन्मा परमात्मामें लीन होजाती है। सर्वेश्वर स्वस्वरूपमें स्थित रहता है, उसका किसीमें लय नहीं होता है, वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान तथा अवधिरूप है। इस प्रकार विचारपूर्वक देखने वाले जीवके चित्तमें यह प्रपञ्चभ्रम किस प्रकार उत्पन्न होसकता है और यदि उसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक काल ठहर कैसे सकता है। व्योममें सूर्यके उदय होजाने पर भी क्या अंधकार रह सकता है, किंतु नहीं। कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान् प्राणान् संहृत्य कामकर्मान्वित–अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति। सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धमोक्षं कश्चित् प्रयाति। अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति। तस्मात् सदा विचारयेत्। अनन्तकर्मशौचं च तपो यज्ञस्तथैव च। तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्वं न विन्दति। इत्यादि वेदवाक्यमें तत्त्व शब्दका प्रयोग होनेसे यही निश्चय हुआ कि विना तत्त्वके ज्ञानसे अर्थात् चित् अचित् और ईश्वर ये तीन ही तत्त्व हैं इनके जाननेके विना सब कुछ करना निष्फल है अतः प्रथम तत्त्वोंको परम्परासे जान कर ही सत्कर्मोंमें लगे। इसके आगे ईश्वरनिरूपण होगा।

———०———

❀ अथेश्वरनिरूपणम् ❀

ईश्वर उस अदृष्ट शक्तिका नाम है जो समस्त जगत्की सृष्टि रक्षा और प्रलयका आदि कारण है। वह ईश्वर अखिल प्रत्यनीक है, अर्थात् अखिल-समस्त हेय--दोषोंका प्रत्यनीक-प्रतिभट प्रतिद्वन्द्वी विरोधी है। ईश्वर अनन्त हैं। जो देशावच्छिन्न न हो, कालावच्छिन्न न हो और वस्त्ववच्छिन्न न हो उसे अनंत कहते हैं। देशका परिच्छेद तब होता है जब कोई वस्तु अमुक देशमें हो और अमुक देशमें न हो। भगवान् तो सर्वव्यापक हैं अतः अमुक देशमें हैं, अमुक देशमें नहीं हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है, अतः वह देशावच्छिन्न न होनेसे अनन्त हैं। जो वस्तु किसी काल में हो और किसी काल में न हो तब वह कालावच्छिन्न कहाजाता है। भगवान् तो नित्य हैं। नित्य वस्तुके लिये यह नहीं कहा जासकता है कि वह अमुक कालमें है और अमुक कालमें नहीं है अथवा अमुक कालमें था और अमुक काल में नहीं था, अतः भगवान् कालावच्छिन्न न होनेसे भी अनन्त हैं। जो वस्तु कभी किसीमें रहे और किसीमें न रहे वह वस्त्ववच्छिन्न कहा जाता है। पदार्थमात्र भगवान्का प्रकार है-शरीर है। शरीरमें शरीरी अवश्य रहता ही है। भगवान् पदार्थमात्र में रहते हैं अतः उनके लिये यह नहीं कहा जासकता है कि वह अमुक वस्तुमें हैं और अमुक वस्तुमें नहीं हैं, अतः वह वस्त्ववच्छिन्न न होनेसे भी अनन्त हैं। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्। अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् स वा आत्मा। यस्यात्मा शरीरं। यस्य पृथिवी शरीरम्। इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मके-भगवान्के अनन्त में प्रमाणभूत हैं। अन्तःप्रविष्टः इस वचनसे यह सिद्ध हुआ कि

ईश्वर सर्वान्तर्यामी है। सर्वान्तर्यामीका अर्थ है सबके भीतर निवास करनेवाला। जो जिसमें रहता है उसके दोष और गुण दोनों उसमें आजाते हैं ऐसा प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। तब यदि भगवान् जीवोंके शरीरके भीतर भी निवास करते हैं तो शरीर के दोष अथवा जीवगत दोष भगवान् में आजाने चाहियें। भगवान् को सर्वान्तर्यामी मानने से यह दोष दीख पड़ता है, परन्तु वास्तवमें यह दोष है नहीं। जिस प्रकार से बाल्यावस्थाके शरीरमें रहनेसे जीवात्मामें बाल्य नहीं आता है, युवावस्थाके शरीरमें रहनेसे यौवन नहीं आता है, और वृद्धा-वस्थाके शरीरमें रहनेसे वार्धक्य नहीं आता है अर्थात् जैसे शरीर के दोष या गुण जीवात्मामें नहीं आते हैं यह सर्वतन्त्रप्रसिद्ध है, ऐसे ही चित् जीव और अचित् जड़ इन दोनों प्रकारों के शरीरमें रहनेसे भगवान्में भी उनके दोष नहीं आसकते और न आते हैं। यहाँ कोई ऐसी शङ्का करते हैं कि यद्यपि शरीरस्थ जीवमें बाल्य यौवन और वार्धक्य आदि नहीं आते हैं तथापि शरीरके सम्बन्धसे होनेवाले सुख दुःखादिकी प्रतीति तो जीव को होती ही है, ऐसे ही ईश्वरमें जीवादिगत दोष भले न आवें परन्तु तत्संसर्गसे होनेवाले सुखदुःखादिकी प्रतीति तो होनी ही चाहिये। और यदि यह प्रतीति होती हो तब तो सर्वान्तर्यामी होनेसे ईश्वर दूषित होगया। इसका समाधान यह है कि जीवात्माका शरीरमें जो प्रवेश है वह कर्ममूलक है। कर्मोंके फलों को भोगनेके लिये ईश्वरीय न्यायसे उसका वहाँ प्रवेश हुआ है। यदि उसे वहाँ सुखदुःखादिका अनुभव न हो तो कर्मफलके न भोगने से शरीरमें प्रवेश ही व्यर्थ होजावेगा अतः वह शरीरस्थ आत्मा शरीरसम्बन्धजन्य सुख दुःखादिकी प्रतीति करता है। भगवान् का जो प्रवेश है वह अनुग्रहमूलक है अर्थात् स्वभावतः है। फल

भोगनेकी इच्छासे ईश्वरका प्रवेश चित् अचित् शरीरमें नहीं हुआ है, अतः उसे तत्सम्बंधजन्य दोषादि दूषित नहीं करते इसी लिये वेदवाक्य भी कहते हैं कि अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति एष सर्वभूतान्तरात्मा इत्यादि। ईश्वर आनन्दरूप ज्ञानस्वरूप है। जो सर्वथा अपने अनुकूल हो उसे आनन्द कहते हैं। जो सर्वथा प्रकाशरूप हो अर्थात् जिसका प्रकाश अन्यके अधीन न हो किन्तु जो स्वयंप्रकाश हो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान ईश्वर का परम अनुकूल होनेसे वही आनन्द है, अतः ज्ञान और आनन्द यह दो अवस्थायें पृथक् पृथक् नहीं हैं प्रत्युत दोनों एक हैं। ईश्वर ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, वात्सल्य और शौर्य आदि परम कल्याण गुणोंसे युक्त है। ईश्वरके ये सब गुण उत्पत्ति और विनाशसे रहित होनेके कारण नित्य हैं। इस अंशमें त इमे सत्याः कामाः यह श्रुति प्रमाण है। ईश्वरके ये सब गुण निस्सीम हैं। इनकी अवधि नहीं है यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। इत्यादि श्रुति ईश्वरगुणों की निस्सीमता में प्रमाण है। ईश्वरके यह सब गुण असंख्य हैं, इनकी गणना नहीं होसकती। ईश्वरके यह सब गुण निरुपाधिक हैं अर्थात् स्वाभाविक हैं। जैसे अन्यत्र स्थित गुणोंको अपनेमें ले आनेके लिये जीव ईश्वरकी इच्छारूप उपाधिकी आकांक्षा रखता है और यदि वह गुण उसमें आजावें तो वह निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक नहीं कहा जावेगा क्योंकि वह ईश्वरेच्छारूप उपाधि से उसे प्राप्त हुआ है, वह तो सब स्वाभाविक ही है। ईश्वरके जो वात्सल्य, सौशील्य, मार्दव और आर्जव आदि गुण हैं वह तो अपने आश्रित जीवोंके लिये हैं। और जो शौर्य पराक्रमादि गुण हैं वह अपने आश्रितोंके विरोधियोंके लिये हैं। तात्पर्य यह

है कि वात्सल्यादिगुण प्रकट होते हैं भक्तों पर और शौर्यादि गुण प्रकट होते हैं भक्तद्रोहियों पर। ईश्वरके गुणोंके लिये निम्न-लिखित क्रम भी ध्यानमें रखने चाहियें। जो भगवद्भक्त अपने हित और अहितका स्वयं विचार नहीं करसकते उनके उपयोगके लिये ईश्वरका ज्ञान है। जो भगवद्भक्त अपने इष्टकी प्राप्तिमें तथा अनिष्टके परिहार करनेमें स्वयं शक्तिमान् नहीं हैं उनके उपयोग के लिये ईश्वरकी शक्ति है। जो भक्त अपनेको भगवदपराधी मान कर पश्चात्ताप करता है उसके प्रयोजनके लिये ईश्वरका क्षमा गुण है। जो भगवदाश्रित अपनेको संसारसागरमें डूबा हुआ मानकर व्याकुल होता रहता है उसके अर्थके लिये ईश्वरका कृपा गुण है। जैसे गौ तत्कालके जन्मे हुये बछड़ेके शरीर पर रहे हुये मलको जीभसे चाटकर छुड़ा देती है वैसे ही जो भक्त अविद्या कर्मादि दोषोंसे अपनेको संयुक्त मानकर भगवान्से उस के नाशकी आशा रखता है उसके उपयोगके लिये ईश्वरका वात्सल्य गुण है। जो भक्त यह मानता है कि मैं नीचोंके संसर्ग से नीच स्वभाववाला होगया हूँ उसके वास्ते ईश्वरका शील गुण है। जो प्रपन्न यह मानता है कि मैं मन वचन और कर्मसे कुटिल व्यवहार करने वाला हूँ उसके लिये ईश्वरका आर्जव गुण है। जो प्रभुजन यह मानता है कि मैं अत्यन्त दुष्ट हृदयका हूँ उसके लिये ईश्वरका सौहार्द गुण है। जो भक्त यह मानता है कि अब मुझे भगवान् कब मिलेंगे, उनके विना मेरी क्या दशा होगी उसके उपयोगके लिये श्रीहरिका मार्दव गुण है। जो भक्त यह मानता है कि प्रभु तो अतीन्द्रिय हैं इन प्राकृत नेत्रोंसे उनका दर्शन कैसे होसकेगा उसके अर्थ राजीवनयनका सौलभ्य गुण है। वह अधोक्षज अतिदयालु हैं, जब वह अपने भक्तको दुःख-ग्रस्त देखते हैं तो हाय हाय करके उसकी रक्षाके लिये दौड़ते

हैं। वह यह नहीं देखते हैं कि यह मेरा भक्त नीचकुलोत्पन्न है अथवा अज्ञानी है अथवा आचारशून्य है। भगवान् अपने भक्तों के अभीष्टको पूर्ण करके ही अपनेको कृतकृत्य मानते हैं। भक्तोंके अत्यल्प एक भी शुभ कार्यको देख कर प्रभु उसका उद्धार कर देते हैं। भक्तोंके दोषोंको जानते हुये भी प्रभु उसका स्मरण नहीं करते। जैसा कि महर्षिवर्य श्रीबाल्मीकिजीने कहा है—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

प्रभु अपनेको भक्ताधीन बना देते हैं, यही सकल ईश्वर जगत के कारण हैं। वेदान्तमें ईश्वर ही जगत्के कारण हैं परन्तु बौद्ध और जैन एकदेशपरमाणुओंको जगत्का कारण मानते हैं। कणाद के अनुयायी परमाणुओंको उपादानकारण और ईश्वरको निमित्त-कारण मानते हैं। परन्तु यह सब मत इस लिये ठीक नहीं है कि परमाणुके होनेमें प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नहीं है। जिनमें महत्त्व होता है उन्हींका प्रत्यक्ष माना जाता है। परमाणुओंमें तो महत्त्व कोई नहीं स्वीकार करते हैं अतः महत्त्वाभावसे उसमें प्रत्यक्ष प्रमाणका अभाव है। अनुमान प्रमाण इस लिये नहीं होसकता कि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होजाता है। शब्दप्रमाण तो इस लिये नहीं है कि वेदोंमें परमाणुप्रति-पादक कोई मन्त्र उपलब्ध ही नहीं होता, अतः वेदोंके प्रमाणसे ईश्वरको ही जगत्का कारण माना गया है। सांख्यके मतसे जगत्का कारण प्रधान है। वह कहते हैं कि विविधताके लिये एक चेतन अधिष्ठाता मानना अपार्थ है। जिस प्रकारसे मेघका एक-रस जल नीचे पड़ता है परन्तु वह नारियलमें अन्य स्वाद वाला होता है, च्युतफलमें अन्य स्वाद वाला होता है और कपित्थादि

में अन्य स्वाद वाला होता है, वैसे ही प्रकृतिका स्वभाव है कि वह भिन्न २ रूपों और भिन्न २ गुणोंको धारण करे। गुणोंके वैषम्य होनेसे ही विचित्र परिणाम होता है, अतः प्रधान-प्रकृति ही जगत् का कारण है, यह मत भी ठीक नहीं है। श्रुतिमें एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेयम् इत्यादि प्रकारसे सृष्टिके लिये संकल्पका निरूपण है। संकल्प करना चेतनका ही मुख्य धर्म है, प्रधान तो अचेतन है, अतः प्रधान जगत्का कारण नहीं होसकता है। यह जो कहा है कि प्रकृतिका स्वभाव ही परिणामी है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस प्रकारका स्वभाव मानोगे तो प्रलय नहीं हो सकेगा, सर्वदा सृष्टि ही बनती रहेगी। कदाचित् कोई कहे कि किसी जीवविशेषको हम कारण मानेंगे अतः ईश्वरको जगत्-कारण मानना व्यर्थ है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवमात्र कर्मवश्य हैं। यद्यपि मुक्त जीव और नित्य जीव कर्मवश्य नहीं हैं तथापि उनमें सर्गनिर्माण सामर्थ्याभाव है। ब्रह्मादि भी स्वतन्त्र जगत्कारण नहीं हैं क्योंकि पुराणों में उन्हें भी कर्मपरतन्त्र और दुःखी लिखा है, अतः कृत्स्नजगत्कारण ईश्वर ही है। कारण तीन प्रकारके होते हैं। उपादानकारण, निमित्त-कारण और सहकारिकारण। जो वस्तु कार्यरूप में परिणामके योग्य हो उसे उपादान कारण कहते हैं। यथा मृत्तिका घटका उपादान कारण है क्योंकि मृत्तिका ही घटके रूपमें परिणत हो जाती है। जो उपादानवस्तुको कार्यरूपमें परिणत करता है वह निमित्तकारण कहा जाता है। जैसे उपादान वस्तु है मृत्तिका, उसको घटरूपमें परिणत करने वाला कुलाल है, अतः कुम्हार घटका निमित्तकारण है। कार्य की उत्पत्तिमें जो उपकरणरूप—साधनरूप हो वह सहकारीकारण होता है, यथा दण्ड चक्र

चीवरादि। ये सब घटोत्पत्तिमें सहायक होते हैं, अतः ये सब घटके सहकारीकारण हैं। अब विचार यह करना है कि वेदांत में ईश्वर इन तीनोंमेंसे किस प्रकारका जगत्का कारण है–उपादान है या निमित्त है, या सहकारी है ? इस विषयमें सिद्धान्त यह है कि तीनों कारण ईश्वर ही है, अथवा जगत्का तीनों कारण ईश्वर है। सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् विशिष्ट होकर वह उपादानकारण होता है बहु स्यां प्रजायेयम्। इस संकल्पसे विशिष्ट होकर वह निमित्तकारण होता है, ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य आदि से विशिष्ट होकर सहकारीकारण होता है। बात यह है कि सृष्टि के आरम्भमें भी तो चित् अचित् और ईश्वर रहते ही हैं। सृष्टि से पूर्व अचित् सूक्ष्मावस्थामें ही रहती है, चित्–जीव भी सूक्ष्मावस्थामें ही रहता है। जीवके सूक्ष्मावस्थामें रहनेका तात्पर्य यह है कि उसका सम्बन्ध अभी सूक्ष्मावस्थामें रहने वाले अचित्के साथ है। सम्बन्धके भेदसे सम्बन्धीमें भेद माना जाता है, अतः जीवको भी सूक्ष्मावस्थामें माना जाना असंगत नहीं है। ईश्वर का तो इन सबके साथ नित्य सम्बन्ध है यह कभी भूलना ही नहीं चाहिये। इसी नित्यसम्बन्धको पारिभाषिकशब्दमें अपृथक् सिद्धिसम्बन्ध कहते हैं, यह भी सदा स्मरण रखना चाहिये। अच्छा अब आगे चलिये। सूक्ष्मावस्थामेंसे ही स्थूलावस्था उत्पन्न होती है, अर्थात् सूक्ष्मावस्था स्थूलावस्थामें परिणत होजाती है। चित् और अचित्की स्थूलावस्थाका ही नाम है सृष्टि। तब सृष्टिका उपादानकारण हुआ सूक्ष्मचित् और सूक्ष्मअचित्। परंतु चित् और अचित् तो कभी ईश्वरसे पृथक् रह ही नहीं सकता है क्योंकि उसका और ईश्वर का अपृथक्सिद्धिसम्बन्ध ऊपर कहा जाचुका है। तथा चित् और अचित् ये दोनों ईश्वरके शरीर हैं, अतः ईश्वरापेक्षा गौण हैं। गौणके नामसे किसी वस्तुका

निर्देश करना रूढिके विरुद्ध है। मल्लग्राम कहे जानेसे यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्राममें सब पहलवान ही रहते हैं। सूखी हड्डी मांस वाले, अस्थिपञ्जर धारण किये हुए दीन भारत की मूर्ति भी उसी ग्राममें रहती है। परन्तु वह गौण है अतः दीनग्राम न कह कर मल्लग्राम कहा जाता है। ऐसे ही चित् और अचित्को उपादानकारण न कह कर ईश्वरको उपादान-कारण कहा जाता है। परन्तु केवल ईश्वर नहीं किन्तु सूक्ष्मचित् और सूक्ष्मअचित्से विशिष्ट ईश्वर। यही कथा निमित्तकारणमें भी है। बहु स्याम्। यह संकल्प तो ईश्वर ही करता है। संकल्प के विना तो जगत्का निर्माण ही अशक्य है। परन्तु संकल्पमात्र जगत्को नहीं बना सकता, अतः उस संकल्पसे युक्त जो ईश्वर है वही जगत्का निमित्तकारण है। अतः बहु स्याम् इस संकल्प से विशिष्ट ईश्वर ही निमित्तकारण कहा जाता है। यही कथा सहकारीकारणमें भी है। जैसे घटके निर्माणमें दण्ड चक्र आदि अपेक्षित होते हैं वैसे ही सृष्टिनिर्माणमें ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य वीर्य तेज आदि भी अपेक्षित होते हैं। ये सब ईश्वरमें ही रहते हैं, इनका भी ईश्वर के साथ अपृथक्सिद्धिसम्बन्ध है। अतः ज्ञानशक्त्यादिविशिष्ट ईश्वर सहकारीकारण कहा जाता है। प्रश्न—ईश्वर जो सृष्ट्यादि व्यापारमें लगा रहता है वह व्यापार क्या अविद्या-कर्मादि-मूलक है, अथवा कोई अपरिहार्य रोग है, अथवा किसीकी प्रेरणासे वह सृष्टिव्यापार करता है? उत्तर—ईश्वरमें अविद्या कर्मादि तो रह ही नहीं सकते हैं। श्रुति कहती है कि भगवान् निरवद्य—दोषरहित हैं, भगवान् निरञ्जन—लेप-रहित हैं, भगवान् अपहतपाप्मा—पापादिसे शून्य हैं। भगवान् को यह कोई बीमारी भी नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि वह

अनामय—रोगरहित हैं, वह विजर—वृद्धावस्थासे रहित हैं, वह विशोक—किसी भी शोकसे शून्य हैं। भगवान्को कोई प्रेरणा करने वाला भी नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि वह सबका प्रेरक है, उसका प्रेरक कोई नहीं है। तब जगत्के निर्माणमें जो वह प्रवृत्त होता है उसमें उसकी स्वेच्छा ही कारण है। इसीको तादात्विक रस कहते हैं। चक्रवर्ती राजा द्यूत खेलने बैठता है उसमें उसका केवल तादात्विक रस कारण है। बालक मृत्तिका या बालुकाका घर घरौना खेलता है उसमें उसका केवल तादात्विक रस ही कारण है। ऐसे ही जगत्के निर्माणमें तादात्विक रससे अतिरिक्त—लीलामात्रके अतिरिक्त अन्य कुछ भी कारण नहीं है। प्रश्न—यदि जगत्के निर्माणमें केवल लीलाको ही कारण माना जावे तो यह जो कहा और सुना जाता है कि जीवों के उद्धारके लिये प्रभु नानाप्रकारकी सृष्टि करते हैं सो अपार्थ हो जावेगा। उत्तर—जगत्के निर्माणके दोनों ही कारण हैं, चेतनों का उद्धार करना भी और लीला भी। परन्तु लीला मुख्य है अतः लीलाको ही हेतु कह दिया है। मल्लग्रामके समान ही यह भी निर्देश समझना चाहिये। लीलाको मुख्य इस लिये माना गया है कि भगवान् अपने सामर्थ्यसे सर्व आत्माओंको एक ही कालमें क्षण भरमें मुक्त कर सकते हैं और त्रिविध दुःखोंसे छुड़ा सकते हैं तथापि नाना प्रकारके अवतारोंके द्वारा नाना प्रकारकी स्थिति उत्पन्न करके जीवों पर जो निग्रहानुग्रह करते हैं उसमें लीला ही कारण है। जिस प्रकारसे बालकका घर बनाना और बिगाड़ना दोनों ही लीला है वैसे ही भगवान्की सृष्टि करना और संहार करना दोनों ही लीला हैं। इस लीलाका अन्त नहीं है। सृष्टि दशामें सृष्टिरूप लीला है और प्रलयदशामें प्रलयरूप लीला है। प्रश्न—जैसे मृत्तिका घटका उपादान कारण है और

उसमें हम विकार देखते हैं । मृत्तिका का घटरूप बन जाना यही तो विकार है। तब ऐसे ही ईश्वर भी जब जगद्रूप बन जाता है तब उसमें भी विकार अवश्य मानना पड़ेगा, विकार माननेसे ईश्वर विकारी हो जावेगा । तब ईश्वरको निर्विकार प्रतिपादन करनेवाली समस्त श्रुतियोंसे विरोध होनेसे यह वार्ता अप्रामाणिक हो जावेगी । उत्तर—परिणाम दो प्रकारका होता है, एक सद्वारक और दूसरा अद्वारक। सद्वारकका अर्थ यह है कि परिणाम किसी अन्य वस्तुमें होता हो परन्तु उसका निर्देश अन्य वस्तुमें किया जाता हो और अद्वारक उसे कहते हैं जिसमें परिणाम होता हो उसीमें परिणामका निर्देश भी किया जाता हो। जैसे मृत्तिकामें घटका जो परिणाम होता है यह अद्वारक है। किसीके द्वारा परिणाम नहीं होता प्रत्युत साक्षात् मृत्तिकामें ही परिणाम होता है। परन्तु यहाँ ब्रह्ममें जो जगत्का परिणाम है वह अद्वारक नहीं है किन्तु सद्वारक है । अर्थात् चिदचिद्रूप विशेषणविशिष्ट ब्रह्म का जगद्रूपसे परिणाम होता है । तात्पर्य यह है कि चित् और अचित् ये दोनों ब्रह्मके, ईश्वरके, भगवान्‌के, परमात्माके विशेषण हैं। इन दोनोंका ईश्वरके साथ अपृथक्‌सिद्धिसम्बन्ध है यह कथा पीछे होचुकी है। ये दोनों किसी क्षण में पृथक् रह ही नहीं सकते हैं, अतः परिणामिनी जो अचित् है उसीमें परिणाम होता है । परमात्माका विशेषण होनेसे उसका परिणाम विशेष्यभूत हरिमें निर्दिष्ट होता है अतः साक्षात् ब्रह्मका परिणाम नहीं होता किन्तु अचिद्रूप विशेषणद्वारा होता है। विशेषणद्वारा परिणाम होनेसे ब्रह्म परिणामी वा विकारी नहीं हो सकता। जैसे ऊर्णनाभिके स्वरूपमें विकार नहीं होता परन्तु स्व-शरीरभूत विशेषणके द्वारा तन्तुरूप कार्यके प्रति मकड़ी उपादान कारण होती है, ऐसे ही स्वस्वरूपमें विकार न होने पर भी जग-

द्रूप कार्यके प्रति अचिद्रूप विशेषण द्वारा ब्रह्म जगत्का उपादान कारण होता है। चिदचिद्विशिष्ट स्वरूपसे ब्रह्मको विकारी कहना हो तो कह लो उसमें कोई क्षति नहीं है। जैसे आत्मा स्वरूपतः निर्विकार है तथापि मनुष्यादि शरीरविशिष्ट आत्मामें बाल युवा और वृद्ध आदिका व्यवहार होता है ऐसे ही ब्रह्ममें भी तादृश व्यवहार किया जासकता है। प्रश्न—किसी कार्यकी एक ही वस्तु उपादान कारण भी हो और निमित्त कारण भी हो, यह तो विरुद्ध कथा है। अतः जगत्का उपादान कारण भी ब्रह्म ही है और निमित्तकारण भी ब्रह्म ही है यह कहना अयुक्त है। उत्तर—यहाँ कुछ भी विरोध नहीं है। एक ही आत्मा अनेक उपायोंसे सुखको उत्पन्न करता है तब वह निमित्त-कारण कहा जाता है और उस सुखका समवायी कारण भी वही होता है। ऐसे ही ब्रह्मके विषयमें भी समझना चाहिये। प्रश्न—ईश्वर सृष्टि बनाता है इसका क्या अर्थ है? उत्तर—ईश्वरका अपनी प्रेरणा विशेषसे अर्थात् संकल्पविशेषसे तमः-शब्दवाच्य अथवा अव्यक्त शब्दवाच्य अचित् में समष्टिरूप से अथवा व्यष्टिरूप से समस्त घटपटादि कार्योंका परिणाम करना ही सृष्टि कही जाती है। ऐसे ही चेतन—जीवको भोगोपकरण शरीर और इन्द्रियादि देकर भोग करने और मोक्षकी प्राप्ति करनेके योग्य बना देना ही सृष्टि है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि से पूर्व में जैसे अचित् तत्त्व स्थित रहता है वैसे ही भोग और मोक्षके योग्य व्यापारसे शून्य होकर चित्तत्व जीव भी स्थित रहता है, अर्थात् उस समय उस का ज्ञान संकुचित रहता है। सृष्टिदशामें चित्तत्व भोग और मोक्ष-सम्पादनके योग्य होजाता है क्योंकि उस समय भगवत्प्रेरणासे उसका ज्ञान विकसित होजाता है जिस प्रकारसे ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है उसी प्रकारसे जगत्की स्थिति और संहार

भी वही करता है। प्रश्न—शास्त्रोंमें तो सर्वत्र लिखा है कि ब्रह्मा सृष्टि बनाता है, श्रीविष्णुजी उसका संरक्षण करते हैं, और रुद्र जी उसका संहार करते हैं। तब यह कथन कैसे सिद्ध होसकता है कि ईश्वर ही सृष्टि स्थिति और प्रलय करता है। उत्तर—यद्यपि पुराणादिमें सर्वत्र जैसा तुम कहते हो वैसा ही लिखा है परन्तु उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भगवान् जिस शक्तिसे अथवा जिस संकल्पसे सृष्टि बनाते हैं उस शक्तिविशिष्ट अथवा उस संकल्पविशिष्ट भगवान्का नाम ब्रह्मा है। जिस शक्तिसे अथवा संकल्पसे भगवान् सृष्टिकी स्थिति अर्थात् रक्षा करते हैं उस शक्तिविशिष्ट अथवा संकल्पविशिष्ट भगवान्का नाम श्री-विष्णुजी है। एवम् जिस शक्तिसे अथवा संकल्पसे भगवान् सृष्टि का संहार करते हैं उस शक्तिविशिष्ट अथवा संकल्पविशिष्ट श्री हरिका नाम रुद्र है। वस्तुतः तीनों कार्य ईश्वर ही करते हैं। जैसे देवदत्त जब पाक बनाता है तब पाचक कहा जाता है, जब पढ़ता है तब पाठक कहा जाता है और जब पढ़ाता है तब अध्यापक कहा जाता है। देवदत्त तो एकैव है किन्तु कार्यभेदसे उस को संज्ञा भिन्न भिन्न होती जाती है। ऐसे ही ब्रह्मके विषयमें समझना चाहिये। प्रश्न—ईश्वरकी सृष्टि का अर्थ तो समझ में आगया परन्तु ईश्वर ही जगत्की स्थिति करता है इसका क्या अर्थ है? उत्तर—जिस प्रकारसे क्षेत्रकेदारमें—खेतकी क्यारीमें जल प्रविष्ट होकर वहाँ स्वयं स्थित रहकर क्षेत्रकी रक्षा करता है—वृद्धि करता है उसी प्रकारसे स्वरचित जगत्में भगवान् स्वयं प्रविष्ट होकर सबकी रक्षा करते हैं। इसीका नाम स्थिति है। प्रश्न—ईश्वर सृष्टिका संहार करते हैं इसका क्या आशय है? उत्तर—जिस प्रकारसे दयालु गुरु या पिता अपने प्रिय शिष्य या पुत्रको कुपथमें प्रयाण करते देख कर अपनी दृष्टिके सामने

रखते हैं, घरके भीतर बन्द कर देते हैं, अथवा रज्जु आदि बाँध देते हैं जिससे कि शिष्य वा पुत्रका दुष्टमार्गगमन छूट जावे। उसी प्रकारसे भगवान् जब देखते हैं कि चेतन मुझे भूलकर विषयपरायण होगया है तब उसके शरीर इन्द्रिय और विषय आदिको नष्ट करके उसे संकुचित ज्ञान वाला बना देते हैं। इसी का नाम संहार है। अथवा सृष्टि और स्थितिके समान ही सब तोड़ फोड़ करके अकेले शान्तिमें बैठ जानारूप लीला ही संहार शब्दका अर्थ है। प्रश्न--ईश्वर तो परम दयालु और सर्वत्र सम-दर्शी हैं। उनकी सृष्टिमें सर्वत्र सुख और समानता होनी चाहिये, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। संसारमें कोई सुखी है और कोई दुःखी है। कोई लूला है, कोई लंगड़ा है, कोई अन्धा है, कोई बहिरा है और कोई गूँगा है। तब तो वैषम्य—विषमता और नैर्घृण्य-क्रूरतारूप दोष भगवान्में आये बिना नहीं रह सकता है। उत्तर—जिस प्रकारसे बालक मिट्टी या बालूका खिलौना बनाते समय राजा बनाता है, सिपाही बनाता है अथवा कुम्भकार या चित्रकार इसी प्रकारकी अनेक वस्तुयें बनाता है परंतु उसमें कोई भी वैषम्य और नैर्घृण्य दोषकी स्थापना नहीं करता क्योंकि उस के बनाते समय उस बालक या कुलाल या चित्रकारके हृदयमें न तो वैषम्य ही होता है और न नैर्घृण्य ही रहता है किन्तु एक प्रकारका कौतुकी भाव जागृत रहता है जिसके कारण वह यह सब बनाता है। उसी प्रकारसे भगवान्की इस लीलामें न तो वैषम्य है और न नैर्घृण्य है। लीलामय भगवान् लीलाके लिये ही यह सब बनाते हैं। प्रश्न—कुम्भकार या बालक या चित्रकार का दृष्टान्त ठीक नहीं है। क्योंकि बनाई हुई सब वस्तुएँ जड़ हैं, उन्हें सुख और दुःखादिका अनुभव नहीं होता है। परन्तु यहाँ तो ग़रीबोंकी चिल्लाहटसे भगवान्का भी आसन हिल जाता है।

अतः उपर्युक्त शंकाका उपर्युक्त समाधान ठीक नहीं हुआ। उत्तर-समाधान तो वही है परन्तु इतना और समझना चाहिये कि जैसे कोई बालक मृत्तिका खानेका अभ्यासी हो तो उसकी माता उस की जीभ पर थोड़ासा सूई आदिसे रक्त बहा देती है, जिससे बालक मृत्तिका भक्षणका परित्याग करदे। इस कार्यमें माताका नैर्घृण्य नहीं है प्रत्युत परमकृपालुता है, मृत्तिका भक्षण करके रोगी होने वाले बच्चेको बचानेका यह सुगम उपाय है। ऐसे ही भगवान् चेतनको अनेक प्रकारके इन्द्रिय-दण्ड देकर कुमार्ग में जानेसे बचाते हैं। जिसको चक्षुर्दण्ड देकर अन्धा बनाया है वह रमणियोंके मुखचन्द्रको भूल जावेगा और उससे होने वाले दुष्परिणामसे बच जावेगा। ऐसे ही बहिरे और गूँगे आदिकी भी बात समझनी चाहिये। प्रश्न—यह सब लीलाविधि तब सिद्ध होसकती है कि यदि ईश्वरको सावयव साकार माना जावे, परन्तु ईश्वर तो निराकार है। अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। इत्यादि श्रुतिवचन से उसका निराकार होना ही सिद्ध है। उत्तर-भगवान् अवयवी ही है अर्थात् साकार ही है, निराकार नहीं। श्रुतियोंमें जहाँ जहाँ निराकार निरूपण हुआ है वहाँ वहाँ प्राकृत आकारका निषेध समझना चाहिये, दिव्य आकार तो भगवान्का है ही। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' का भी यही अर्थ है कि वह प्राकृत पाणि नहीं है और प्राकृत पाद नहीं है, दिव्य हस्त पादादि तो भगवान्के हैं ही। प्रश्न—यदि भगवान् अवयवी हैं तो अनित्य भी होंगे? क्योंकि संसारमें देखा जाता है कि घट पटादि जितने अवयवी हैं सब अनित्य हैं। उत्तर—अवयवी वह अनित्य होता है जो अनेक अवयवोंसे बना हुआ हो। अवयवके सम्बन्धमात्रसे कोई अवयवी

अनित्य नहीं होसकता है। घट पटादि तो अपने अनेक अवयवों से आरब्ध हैं—बने हुये हैं अतः अनित्य हैं। भगवान् तो किसी अवयवसे बने नहीं हैं, उनका शरीर तो नित्य है। वह ईश्वर विभु है अर्थात् व्यापक है। जो प्रत्येक पदार्थमें रहता है, जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है उसे व्यापक कहते हैं। ईश्वरकी व्यापकता तीन प्रकारकी है। एक स्वरूपसे, दूसरी धर्मभूत ज्ञानसे और तीसरी विग्रहसे। भगवान्का सर्वान्तर्यामित्व स्वरूप है, उस सर्वान्तर्यामिताके द्वारा सर्वत्र व्यापक है। इसे स्वरूपव्याप्ति कहते हैं। भगवान् अपने व्यापक ज्ञानके द्वारा सकल चराचर जगत्का निरीक्षण कर रहे हैं इसे ज्ञानव्याप्ति कहते हैं। जगत् सर्वं शरीरं ते। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। इत्यादिके अनुसार सर्व जगत् हरिका शरीर है। यह जगद्रूप शरीर सर्वत्र है अतः इसीका नाम विग्रहव्याप्ति है। वह ईश्वर पञ्चभेदसे स्थित रहते हैं। पर १ व्यूह २ विभव ३ अन्तर्यामी ४ और अर्चावतार ५। पर भगवान्का वह स्वरूप है जो अनेक पार्षदों, नित्यमुक्त जीवोंसे परिवेष्टित श्रीजगदम्बा चिच्छक्ति महालक्ष्मीवाच्या श्रीजानकीसमन्वित साकेतलोकनिवासी भगवान श्रीरामका द्विभुज रूप है। ऐसा ही कहा है। स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्ममेव चतुर्भुजम्। द्विभुजं तु परं प्रोक्तमाद्यरूपमिदं हरेः। द्विभुज भगवान् श्रीराम ही पर हैं वही अवतारी हैं। नाना अवतार उन्हींमेंसे प्रकट हुआ करते हैं। वही भगवान् उपासकों पर दया करके क्रमिक उपासनाकी सिद्धिके लिये जब वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूपसे प्रकट होते हैं तो उनका नाम व्यूह होता है। वासुदेवमें ज्ञान १ बल २ ऐश्वर्य ३ वीर्य ४ शक्ति ५ और तेज ६ ये छहों गुण पूर्ण रहते हैं। संकर्षणमें ज्ञान और बल

ये दो ही गुण उद्भूत रहते हैं। प्रद्युम्नमें ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्धमें शक्ति और तेज ये दो गुण आविर्भूत रहते हैं। इन चार व्यूहोंके अतिरिक्त अन्य द्वादश व्यूह भी माने जाते हैं। वह द्वादश मासों और द्वादश आदित्योंके अधिदैवत हैं। उनके यह नाम हैं—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर। इनमें से केशव नारायण और माधव ये तीन वासुदेवमें से प्रकट होते हैं। गोविन्द विष्णु और मधुसूदन ये तीन संकर्षणमें से प्रकट होते हैं। त्रिविक्रम वामन और श्रीधर ये तीन प्रद्युम्नमेंसे प्रकट होते हैं। हृषीकेश पद्मनाभ और दामोदर ये तीन अनिरुद्धसे प्रकट होते हैं। १ केशवका सुवर्णसमान रूप है और चार चक्र हैं, २ नारायणका श्याम रूप है और चार शङ्ख हैं, ३ माधवका इन्द्र-नीलमणिके समान रूप है और चार गदायें हैं, ४ गोविन्दका चन्द्रसमान रूप है और चार धनुष हैं, ५ विष्णुका कमलसमान रूप है और चार मूसल हैं, ६ त्रिविक्रमका अग्निसमान रूप है और चार खड्ग हैं, ७ वामनका बालसूर्यसमान रूप है और चार वज्र हैं, ८ श्रीधरका श्वेत कमलसमान रूप है और चार पट्टिश (अस्त्रविशेष) हैं, ६ हृषीकेशका विद्युत्समान रूप है और चार मुद्गर हैं, १० पद्मनाभका सूर्यसमान रूप है और पञ्च आयुध (शङ्ख चक्र गदा पद्म और धनुर्बाण) हैं, ११ दामोदरका इन्द्र-गोपके समान रूप है और चार पाश हैं, १२ मधुसूदनका कमल समान रूप है और चार मूसल हैं। अवतारोंको विभव कहते हैं। यद्यपि विभव अनन्त हैं तो भी मुख्य और गौण यह दो भेद मान कर कार्य चलाया जाता है। साक्षात् अवतारको मुख्य और आवे-शावतारको गौण कहते हैं। आवेश दो प्रकारका होता है स्वरूपा-वेश और शक्त्यावेश। परशुरामादिके शरीरमें असाधारणरूपसे

जो भगवान्का आवेश होता है वह आवेशावतार कहा जाता है। ब्रह्मा शिवादिमें किसी कार्यकी सिद्धिके समय उस कार्यकी योग्य शक्तिसे जब भगवान्का आवेश होता है तो उसे शक्त्यावेश कहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि आवेशावतारको जो गौण कहा जाता है वह स्वरूपतः गौण नहीं है परन्तु भगवान् की इच्छासे गौण है। यहाँ यह भी समझना चाहिये कि जो विभवको मुख्य बताया गया है वहाँ केवल मुख्य ही नहीं प्रत्युत मुख्यतम मुख्यतर और मुख्य इस प्रकारका विभाग है। भगवच्छ्रीरामावतार मुख्यतम विभव है। नृसिंहावतार मुख्यतर विभव है और वामन श्रीकृष्णादि मुख्य विभव हैं। श्रीराम यद्यपि पर हैं, अवतारी हैं तथापि जब श्रीरामावतार स्वीकार किया जाता है तो उसे विभव कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परधाममें श्रीचिच्छक्तिसहित नित्य विराजमान प्रभुको परशब्दसे कहा जाता है, और जब वही करुणावश अवताररूपमें पृथिव्यादि पर पधारते हैं तो विभव कहे जाते हैं। अवतार दश हैं। मत्स्य १ कूर्म २ वराह ३ नृसिंह ४ वामन ५ परशुराम ६ श्रीराम ७ बलभद्र ८ श्रीकृष्ण ९ और कल्कि १० इनके अतिरिक्त भी अनन्त अवतार भगवान्के हैं और होते रहते हैं तथा होते रहेंगे। स्वर्ग नरक आदिके सुख दुःखोंके अनुभवके समयमें भी सुहृद्भावसे हृदयप्रदेशावस्थित जो भगवत्स्वरूप है उसे अन्तर्यामी कहते हैं। भक्तोंके ध्यान करनेके योग्य स्वरूपसे भक्तोंकी रक्षाके लिये उनके हृदयकमलमें जो भगवत्स्वरूप है उसे भी अन्तर्यामी कहते हैं। अतः अन्तर्यामीको स्थिति दो प्रकारकी समझनी चाहिये। अर्चावतार प्रतिमावतारको कहते हैं। अर्चावतारके लिये देश कालादिका नियम नहीं है। चाहे जिस देशमें चाहे जिस कालमें और चाहे जिस द्रव्यकी प्रतिमा बनाकर भगवान्की पूजा की जासकती

है। अर्चावतारमें भी यद्यपि भगवान् षड्गुणसम्पन्न ही रहते हैं तथापि उनका स्नान भोजन आसन शयन आदि सब अर्चकके अधीन रहता है। वह अर्चावतार चार प्रकारका है। स्वयंव्यक्त १, दैव २, सैद्ध ३ और मानुष ४ जो विग्रह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ है उसे स्वयंव्यक्त कहते हैं। जो देवताओंसे स्थापित है उसे दैव-मूर्ति कहते हैं। जो सिद्धोंसे स्थापित है उसे सैद्धप्रतिमा कहते हैं। जो मनुष्योंसे प्रतिष्ठित की गई है उसे मानुष-प्रतिमा कहते हैं। कहीं कहीं आर्ष नामका भी एक भेद अर्चावतारका पाया जाता है परन्तु वह मानुषके अन्तर्भूत समझना चाहिये। इन सब अवस्थाओंमें अर्थात् पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इन पाँचों दशाओं में भगवान् श्रीजी के साथ ही विराजमान रहते हैं, कभी श्रीजीका विरह नहीं होता है।

दिग्दर्शनमात्र समाप्त हुआ

अथ ब्रह्मोपासनाविधिनिरूपणम्

अहरहर्ब्रह्मोपासीत। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। आत्मान-मेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति। यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते। यः आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते। तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि। तदेवोपासितव्यमिति ज्ञेयम्। य एत-त्तारकं ब्रह्म ब्राह्मणो नित्यमधीते। स पाप्मानं तरति। सर्वं तरति। सोऽमृतत्वं च गच्छति। श्रीब्रह्मके शरीरभूत चित् और अचित्के तथा अखिलहेयप्रत्यनीक अनन्तकल्याण गुणसागर

परात्पर पुरुषोत्तमादि पदोंसे वेद्य चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मके स्वरूप का निरूपण किया जाता है। परम पुरुष भगवान्‌के निरन्तर अनुभवको ही मोक्ष कहते हैं। मोक्षकी प्राप्ति ब्रह्मोपासनासे ही होती है। इसी ब्रह्मोपासनाका नाम विद्या वा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। विद्याके साथ साथ भगवत्परक कर्म भी आवश्यक है। यही मोक्षका साधन है अतः मोक्ष ही परम पुरुषार्थ कहा गया है और वही विद्याका—ब्रह्मोपासनाका फलरूप है। संशय—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।

अर्थ—आत्माका ही दर्शन वा विचार करना चाहिये, उसीका श्रवण करना चाहिये, उसीका मनन करना चाहिये, उसीका निदिध्यास—अभ्यास करना चाहिये। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयि आत्माका दर्शन श्रवण मनन और विज्ञान होजाने पर जो कुछ जगत्‌में है उन सबका ज्ञान होजाता है। इत्यादि उप-निषद्‌के वाक्योंमें ब्रह्मप्राप्तिका साधन जो वेदन बताया है वह क्या एक वार करना चाहिये अथवा अनेक वार उनका अनुष्ठान करना चाहिये। पूर्वपक्ष—एक बार ही करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिका हेतु ब्रह्मवेदनमात्रको बताया गया है। तब जैसे वेद-विहित ज्योतिष्टोमादि यज्ञ एक ही वार किया जाता है वैसे ही यह साधन भी एकवार अनुष्ठित होना चाहिये। एक वार करने से भी शास्त्रविधिकी चरितार्थता—सफलता तो हो ही जावेगी। सिद्धान्त—ध्यान और वेदनादि पदोंसे उपदिष्ट (दिखाया गया) वेदनकी आवृत्ति (पुनः पुनः) करनी चाहिये क्योंकि श्रुतिमें निदिध्यासितव्यः कहकर असकृत् (वारंवार) ध्यानको आत्म-दर्शनका साधन माना है। निदिध्यासन पदका अर्थ होता है

अनेक वार ध्यान करना। जब तक असकृत् वार ध्यान न किया जावे तब तक परमात्माका आविर्भाव नहीं होता है। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। इस वेद-वाक्यमें ध्रुवा (निश्चल) स्मृतिको सर्वग्रन्थियोंके मोक्ष (छूटने) में हेतु कहा गया है। ध्रुव शब्दका अचल अर्थात् तैलधारावद-विच्छिन्न अर्थ है। यह अचलत्व अथवा तैलधारावदविच्छि-न्नत्व निरन्तर स्मृतिके विना हो नहीं सकता है। अतः यही अचलत्वस्मृतिके सातत्य (निरन्तर) का उपपादन करके स्मृति की आवृत्तिका ज्ञापन करती है। प्रश्न—आत्मा वारे द्रष्टव्यः इत्यादि श्रुतियोंमें ता स्मृतिका विधान नहीं किया है किन्तु श्रवण मनन निदिध्यासन आदिका ही विधान किया है। उत्तर-ब्रह्मविषयक स्मृतिको ही कहीं उपासना शब्दसे कहा है और कहीं वेदनादि शब्दोंसे कहा है। ध्यान उपासन वेदन और स्मृति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। क्योंकि वेदन और उपासन ये दोनों समान प्रकरणमें बांधित हुए हैं, तात्पर्य यह है कि मनो ब्रह्मेत्युपासीत। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्म-वर्चसेन य एवं वेद। यस्तद्वेद यत् स वेद स मयैतदुक्तः। अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-तव्यः। ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः। इत्यादि श्रुतियोंमें वेदन ध्यान उपासन यह सब पर्यायवाची हैं। ध्यान का ही अर्थ चिन्ता है। चिन्ता स्मृतिसन्तानका नाम है। स्मृति-सन्तान अनेक वार स्मृतिके विना बन नहीं सकता अतः वेदन का अनुष्ठान सर्वदा करना चाहिये। अनन्यचेताः सततं यो मां

स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगैर्निष्पाद्यते तथा ॥ अर्थ—दूसरे किसी भी वस्तुमें ध्यान न रख कर जो प्रतिदिन मेरा सतत स्मरण करता है, हे पार्थ! उस नित्ययुक्त योगीको मैं सुलभ हूँ। उस ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानमें एक ही प्रवाह चलना चाहिये, उसमें किसी अन्यपदार्थकी स्पृहा नहीं होनी चाहिये। इसीका नाम ध्यान है। यह ध्यान यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार और धारणा इन प्रथमोक्त छः अंगोंसे सिद्ध होता है। इत्यादि स्मृतिवचन भी वेदनादिके अनेक वार ही अनुष्ठान करनेका आदेश करते हैं अतः वेदनादिकी आवृत्ति करनी चाहिये। संशय—निदिध्यासनकालमें ब्रह्मोपासक ब्रह्मका ध्यान किस प्रकारसे करे? ब्रह्मको अपनेसे भिन्न मान कर ध्यान करे अथवा अपना आत्मा मान कर करे? प्रश्न—इन दोनोंमें से प्राप्त क्या है? पूर्वपक्ष—उत्तर—अपनेसे भिन्न मान कर ब्रह्मकी उपासना करे क्योंकि ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य। अर्थ—ज्ञ (जीव) और अज्ञ (प्रकृति) ये दोनों अज हैं। एक ईश (समर्थ) है और एक अनीश (असमर्थ) है, और एक अजा है—प्रकृति है। भगवान् इन समस्त वस्तुओंको तथा समस्त विश्वको बनाता है, उसमें जीव श्रीप्रभु की मायासे बद्ध होजाता है। शरीररूप एक वृक्षके ऊपर पुरुष बैठा हुआ है, भोग्यभूता प्रकृतिसे अपने स्वरूपको भूल गया है, बैठा बैठा शोक करता रहता है। जब दयावश ईशको अपने ऊपर

प्रसन्न देखता है और उनके गुणमाहात्म्यका श्रवण मनन ज्ञान करता है तब जन्ममरणरूप शोकरहित होजाता है। इत्यादि श्रुतियोंसे और अधिकं तु भेदनिर्देशात्। नेतरोऽनुपपत्तेः। इन सूत्रोंसे उपासक जीव और उपास्य ब्रह्मका भेद ही प्रतीत होता है। अतः शास्त्रानुसार ही यथावस्थित ब्रह्मको जीवसे भिन्न मान कर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये, अन्यथा नहीं। नहीं तो यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ अर्थ—जो शास्त्रीय विधि को छोड़ कर स्वेच्छासे वर्तन करता है वह न तो सिद्धिको ही पाता है, न सुखको ही और न मोक्षको ही। इस गीतावचनसे विरोध आवेगा, अतः भिन्न मानकर ही उपासना करनी चाहिये।

सिद्धान्त— ब्रह्मको अपना आत्मा मान कर ही अर्थात् अभिन्न मान कर ही उपासना करनी चाहिये। जैसे उपासक प्रत्यगात्मा अपने शरीरका आत्मा है वैसे ही उपासक आत्माका भी आत्मा ब्रह्म है अतः ब्रह्म मेरा आत्मा है इस बुद्धिसे उपासना करनी चाहिये। प्रश्न—यह कैसे जाना जावे कि मेरा आत्मा ब्रह्म है ऐसा मान कर ही ब्रह्मोपासना करनी चाहिये? उत्तर—यद्यपि उपासक जीवके स्वरूप और स्वभावसे ब्रह्मका स्वरूप और स्वभाव भिन्न है तथापि त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि। अर्थ—हे भगवन्! हे दिव्यगुणाकर! मैं आप हूँ और आप मैं हैं। इस श्रुतिके अनुसार पूर्वके उपासक महाशय अहं ब्रह्म ऐसी अभिन्न ही उपासना स्वीकार करते हैं। प्रश्न—भिन्न स्वभाव वाले जीवकी ब्रह्मके साथ अभेदोपासना वे कैसे मानते हैं? उत्तर—श्रुतियाँ उपासकको ऐसा ही उपदेश देती हैं।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं । य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । अर्थ—जो कुछ जगत्में है सबका आत्मा भगवान् ही है वह सत्य अर्थात् निर्विकार वस्तु है। जो भगवान् आत्माके भीतर रहता हुआ भी उससे भिन्न है, आत्मा जिसको नहीं जानता है, आत्मा जिस ब्रह्मका शरीर है, जो प्रभु आत्मा का नियमन करता है, वह हरि तेरा आत्मा है, अन्तर्यामी है और अमृत है। इत्यादि श्रुतियाँ चिदात्मक और अचिदात्मक निखिल जगत्को ब्रह्मका शरीर तथा ब्रह्मको उनका आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा अपने शरीरके प्रति आत्मा होनेसे मैं मनुष्य हूँ मैं देव हूँ इस प्रकारका अनुसन्धान करता है तथा परमात्मा भी आत्माओंका आत्मा है अतः 'अहं ब्रह्म' ऐसा अनुसन्धान उपासक उपास्यके लिये कर सकता है। इसी वस्तुको

त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते। अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद ।सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।

अर्थ—जो मनुष्य श्रीहरिकी उपासना तो करता है परन्तु ऐसा मानता है कि मेरा धारक नियामक और आत्मा जो हरि है उससे मैं भिन्न हूँ और मैं जो उसका धार्य नियाम्य और शरीर हूँ उस मुझसे वह भिन्न है तो वह कुछ नहीं जानता है। वह देवताओं का पशु है, उसको सब छोड़ देते हैं। जो यह मानता है कि आत्मासे-ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें यह सब पदार्थ हैं इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें उपपादन किया गया है। अतः फलितार्थ यह निकला कि प्रत्यागात्मा अपनेको अपने शरीरसे अधिक समझे। तथा मैं

भी ब्रह्मका शरीर हूँ ऐसा मान कर अपनेसे ब्रह्ममें आधिक्यका अनुसन्धान करे। इस प्रकारके अनुसन्धाम करनेसे पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा। इत्यादि श्रुतिमें कहा गया हुआ पार्थक्यभेद भी सिद्ध रह जाता है। अतः सिद्धान्त यह हुआ कि ब्रह्मको उपासक अपना आत्मा मान कर अहं ब्रह्म इस बुद्धिसे उपासना करे। संशय—मनो ब्रह्मेत्युपासीत। अर्थ—मन ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये, इत्यादि श्रुतिविहित प्रतीकोपासनाओंमें यह संशय है कि मन आदिमें आत्मबुद्धि करनी चाहिये वा नहीं। अर्थात् जिस प्रकारसे ब्रह्ममें आत्मबुद्धि रख कर उपासना की जातो है वैसे हो मन आदिमें भी आत्मत्वबुद्धि रख कर उपासना करनी चाहिये या नहीं। पूर्वपक्ष—जितनी उपासनायें हैं सब समान हो हैं। तब जैसी ब्रह्मोपासना ऐसी ही मन उपासना। ब्रह्म स्वात्मा है यह तो निर्विवाद हो ही चुका है। मनोब्रह्म कहनेसे मन भी ब्रह्मरूप ही हुआ। वह मनोरूप ब्रह्म उपासकके आत्मभूत ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। तब मन आदिमें भी आत्मबुद्धि करनी चाहिये। सिद्धान्त—मन आदि प्रतीकोंमें आत्मत्वबुद्धि नहीं करनी चाहिये क्योंकि मनरूप प्रतीक उपासकका आत्मा नहीं है। मनोब्रह्ममें जो सामानाधिकरण्य दीख पड़ता है वह तो मन आदिमें ब्रह्मदृष्टि करनेके लिये है न कि मनको ब्रह्मबोधन करनेके लिये। प्रतीकोपासनाओंमें प्रतीककी ही उपासना अभिमत है ब्रह्मकी नहीं। प्रश्न—प्रतीकोपासना किसे कहते हैं? उत्तर—जो ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्मबुद्धि रखकर भावना करनी। पूर्वपक्ष—यह जो कहा गया है कि प्रतीकोपासनाओंमें प्रतीककी ही उपासना होती है ब्रह्मकी नहीं वह अयुक्त है। जब चेतन ब्रह्मरूप उपास्यका मिलना संभव होसकता है तब अचेतन उपा-

स्यकी उपासना अनुचित है, अतः मन आदि दृष्टिसे ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये। सिद्धान्त। मन आदिकी अपेक्षा ब्रह्म उत्कृष्ट है अतः मन आदिमें ही ब्रह्म दृष्टि करना उत्तम है। लोक में भी निकृष्ट अमात्य आदिमें उत्कृष्ट राजत्वबुद्धि देखी जाती है, उसका उत्तम फल भी होता है। परन्तु राजामें निकृष्ट अमात्यादि की बुद्धि हानिकर होती है, अतः अपकृष्ट मन आदिमें उत्कृष्ट ब्रह्मको ही दृष्टि करनी चाहिये। ब्रह्मदृष्टिसे मन आदिकी उपासनामें दोष नहीं है। संशय—य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत। अर्थ—कर्माङ्गभूत उद्गीथमें आदित्यदृष्टि रख कर उपासना करनी चाहिये। इत्यादि कर्माङ्ग उपासनाओंमें यह संशय होता है कि क्या आदित्यादिमें उद्गीथादिकी दृष्टि करनी चाहिये अथवा उद्गीथ आदिमें आदित्यदृष्टि करनी चाहिये। पूर्वपक्ष—निकृष्टमें उत्कृष्टकी बुद्धि करनी चाहिये इस पूर्वोक्त न्यायसे निकृष्ट आदित्यादि में उत्कृष्ट उद्गीथ आदि की बुद्धि करनी चाहिये। प्रश्न—आदित्य निकृष्ट और उद्गीथ उत्कृष्ट कैसे हैं? उत्तर—उद्गीथ कर्म है। कर्म का फल हुआ करता है, अतः उद्गीथादि सफल है। आदित्य तो कर्म नहीं है अतः उसका कुछ भी फल न होनेसे वह निष्फल है। निष्फलकी अपेक्षा सफल उत्कृष्ट होता है यह प्रायः देखा जाता है। सिद्धान्त—उद्गीथादि कर्मोंमें ही आदित्यादि बुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि जैसे प्रोक्षण आदिके द्वारा संस्कार किये गये व्रीहि आदिमें प्रकृत कर्मसे अपूर्वरूप फल उत्पन्न होता है वैसे ही आदित्य आदि देवताओंकी दृष्टिसे संस्कार किये गये हुए उद्गीथादि कर्माङ्गोंमें से जो प्रकृत कर्म होगा उसमें अधिक फलरूप समृद्धि उत्पन्न होती है। किञ्च आदित्यादि देवोंकी आराधनासे ही कर्म फल देते हैं अतः आदित्यादि ही उत्कृष्ट है

और अतएव उद्गीथादिमें आदित्यादि दृष्टि करनी चाहिये। संशय—पूर्वमें जो वेदन ध्यान निदिध्यासन आदि पदोंसे मोक्ष की साधनरूपा उपासना कही गई है उसका अनुष्ठान कैसे करना चाहिये। खड़े खड़े वा बैठे बैठे अथवा अनियमसे अथवा नियमसे उपासना करनीचाहिये। पूर्वपक्ष—उपासना तो मनका धर्म है शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। चाहे खड़े खड़े उपासना करो चाहे बैठ कर वा जैसे इच्छा हो वैसे। सिद्धान्त—बैठ कर ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि एक ही प्रकारकी प्रतीति निरन्तर होती रहे इसीको उपासना कहते हैं, और यह समानाकार निरन्तर प्रतीति उपासकके बैठे रहने पर ही होसकती है। खड़े हुए पुरुषोंकी उपासना ठीक ठीक नहीं होसकती क्योंकि शरीरको स्थित रखने आदिके लिये उसे कितने ही प्रयत्न करने पड़ेंगे तब चित्तका विक्षेप अवश्य होगा। चलते हुए मनुष्यकी भी उपासना ठीक नहीं होगी क्योंकि चलता चलता वह अनेक प्रकारकी वस्तुओंको देखेगा जिससे चित्त अवश्य चञ्चल होजावेगा। सोते सोते भी उपासना नहीं होसकेगी क्योंकि निद्रा आजानेका सम्भव रहता है। अतः नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रख कर बैठे हुए ही उपासना करे, यही पूर्ण नियम है। निदिध्यासितव्यः। ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होचुका है कि ध्यानका ही नाम उपासना है। विजातीय प्रतीति बीचमें न हो और सजातीय प्रतीतिका प्रवाह चलता रहे अर्थात् अनन्य चित्तसे केवल ब्रह्मके सतत चिन्तनका नाम ध्यान है। वह ध्यान बैठे हुए उपासकमें ही सिद्ध होसकता है अतः बैठकर ही उपासना करनी चाहिये। ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्ती वापो ध्यायन्तीव पर्वता

ध्यायन्तीव देवमनुष्याः । अर्थ—पृथिवी भी मानो ध्यान कर रही है, अन्तरिक्ष भी मानो ध्यान ही कर रहा है, द्यौ भी मानो ध्यान ही कर रही है, जल भी मानो ध्यान कर रहे हैं । पर्वत भी मानो ध्यान ही कर रहे हैं, देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान ही कर रहे हैं। इस श्रुतिमें पृथिवी और पर्वतादिको ध्यान करने वाला कहा गया है। यद्यपि ये ध्यान करते नहीं हैं तथापि इनमें ध्यानका उपचार कहा गया है। इन औपचारिक ध्यान करने वाले पृथिवी पर्वतादिमें जो अचलता है उसे देख कर यह जाना जाता है कि किसी भी ध्यातामें अचलताका होना आवश्यक है। वह अचलता बैठे हुएमें ही आसकती है अतः बैठकर ही उपासना करनी चाहिये। शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशो-त्तरम् ॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्या-सने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ अर्थ—पवित्र देशमें न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा तथा जिसके ऊपर कोई वस्त्र हो या मृगचर्म हो या कुश हो ऐसा अपना आसन स्थापित करके उस पर मनको एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको रोके हुए आसन पर बैठ कर चित्तकी शुद्धिके लिये योग करे। इस स्मृतिवचनमें श्रीहरिजीने बैठ कर ही परमात्माके योगरूप ध्यान का आदेश किया है। प्रश्न—किस देश और किस कालमें बैठ कर ध्यान करना चाहिये ? उत्तर—जिस देशमें और जिस काल में चित्तकी एकाग्रता हो अर्थात् सजातीय ही प्रतीति हो और विजातीय प्रतीति न होने पावे वहाँ ही और उसी कालमें उपा-सना करनी चाहिये। क्योंकि श्रुतिमें कहीं भी ऐसा विशेष निर्देश नहीं किया गया है कि पूर्व वा उत्तरादि दिशायें हों, नदी तट

आदि हो अथवा ब्राह्ममुहूर्तादि काल हो। प्रश्न—समे शुचौ शर्करावन्हिबालुकाविवर्जिते इत्यादि वचनसे देशका नियम तो किया गया है। उत्तर—यह देशका नियम नहीं है किन्तु चित्त की एकाग्रताके निरूपक देशका अभिधान है। अर्थात् प्रायः ऐसे ही सम, पवित्र और कंकड़ पत्थर बालुका आदिसे रहित प्रदेश में चित्तकी एकाग्रता हुआ करती है अतः ऐसा ही देश हो अथवा चाहे जैसा हो परन्तु वहाँ चित्तकी एकाग्रता रह सकती हो तो वहाँ ही उपासना करनी चाहिये। संशय—यह जो मोक्षका साधन उपासना है उसका एक ही दिन अनुष्ठान करना चाहिये अथवा मृत्युपर्यन्त प्रतिदिन अनुष्ठान करना चाहिये। पूर्वपक्ष—यदि ध्यानकी आवृत्तिमें ही तात्पर्य हो तो कुछ कालतक ध्यानका अभ्यास करके पश्चात् छोड़ देना चाहिये क्योंकि कुछ काल तक ध्यान करनेसे भी आवृत्ति तो सिद्ध हो ही गई। सिद्धान्त—मृत्युपर्यन्त प्रतिदिन उपासना करनी चाहिये। क्योंकि स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। अर्थ—जब तक जीवे तब तक उपासक इसी प्रकारसे श्रीप्रभु की उपासना करता हुआ ब्रह्मलोकको पाता है और पुनः लौट कर संसारमें नहीं आता है। इस श्रुतिमें उपासनाके आरम्भकालसे लेकर मृत्युपर्यन्तके मध्यकालमें भी उपासनाका अनुष्ठान कहा गया है, अतः जब तक मृत्यु न हो तब तक उपासना की आवृत्ति करनी चाहिये। जो विद्यास्वरूप अवशिष्ट रहगया था उसका विचार यहाँ तक किया गया है, अब उस विद्याके फल का विचार किया जाता है। संशय—ब्रह्मवेत्ता के विद्याफल से विरुद्ध फल पापका क्षय होता है या नहीं। पूर्वपक्ष—पापका

क्षय नहीं होता क्योंकि शास्त्रमें कहा है नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । अर्थ—किया हुआ कर्म भोगे विना करोड़ों वर्षोंमें भी क्षीण नहीं होता है। सिद्धान्त—ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने पर उत्तराघ और पूर्वाघ इन दोनोंका अश्लेष और विनाश सम्भव ही है क्योंकि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते । अर्थ—जिस प्रकार से कमलपत्र पर जलका संश्लेष नहीं रहता उसी प्रकारसे ब्रह्मको जाननेवालेमें कर्मका संसर्ग नहीं होता है, पापका संसर्ग नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी कभी पाप कर ही नहीं सकता । परन्तु कदाचित् कोई पाप भ्रमसे हो भी जावे तो पापोत्पत्ति को रोकने की ब्रह्मज्ञानी में शक्ति आजाती है। यह श्रुति उत्तराघका अश्लेष प्रतिपादन करती है। तथा तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे । अर्थ—मुञ्ज तृणके अभ्यन्तरका भाग (रूई) जैसे अग्निमें पड़ते ही जल जाता है वैसे ही जो विद्वान् विद्यापूर्वक प्राणाग्निहोत्रका अनुष्ठान करता है उसके सब पाप नष्ट होजाते हैं। तथा ईश्वराविर्भाव होने पर सर्व कर्म क्षीण होजाते हैं। ये श्रुतियाँ पूर्वसञ्चित अघके नाशका प्रतिपादन करती हैं। प्रश्न—यदि पूर्वसञ्चित अघका नाश माना जावे तो नाभुक्तं क्षीयते कर्म इसके साथ विरोध नहीं होगा? उत्तर—नहीं। इस वचनका तो यह तात्पर्य है कि कर्मोंके फल की प्राप्ति अवश्य होती है, अतः फलोत्पत्तिकी दृढतामें ही तात्पर्य है। तथा अश्लेष और विनाशके प्रतिपादन करने वाले वचनोंका यह अभिप्राय है कि पूर्वकृत पापकर्मोंमें जो फलोत्पादक शक्ति है

उसके विनाश करनेका सामर्थ्य विद्यामें है तथा उत्पत्स्यमान अर्थात् जो उत्तराघ है उनमें जो फलोत्पादक शक्ति है उस शक्तिके अवरोध का सामर्थ्य भी विद्यामें है। अतः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि। इत्यादि और नाभुक्तं क्षीयते कर्म इत्यादि वचनोंका विषय भिन्न २ होनेसे कोई विरोध नहीं है। अथवा नाभुक्तं क्षीयते कर्म यह वचन प्रारब्ध कर्मके लिये है क्योंकि प्रारब्ध कर्मका क्षय भोगसे ही होगा। भगवान्की अप्रीति ही पापकर्मोंकी फलोत्पादिका शक्ति कही जाती है। अतः भगवान्का भजन करना आदि जो विद्या है वह भगवान्को अत्यन्त प्रिया है। भविष्यमें होने वाले पापोंके कारण जो भगवान्की अप्रीति होगी उस प्रियाविद्यासे उसका विरोध अवश्य होता है। उक्त न्यायका पुण्यके भी अश्लेष और विनाशमें अतिदेश करते हैं। अर्थात् जैसे उत्तर अघका अश्लेष और पूर्व अघ का विनाश होता है वैसे ही उत्तर पुण्य का भी अश्लेष और पूर्व पुण्यका विनाश होता है। क्योंकि जिस प्रकारसे विद्या फल—मोक्षका विरोधी पापकर्म है वैसे ही उसका विरोधी पुण्य कर्म भी है। मोक्षका विरोधी होनेसे पाप और पुण्य दोनों समान ही हैं। यत्सुकृतदुष्कृते धूनुते उभे हैवैष एते तरति। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय। इत्यादि श्रुतियाँ पुण्यविनाश का भी उपदेश करती हैं। उत्तराघ और पूर्वाघ तथा उत्तरपुण्य और पूर्वपुण्य ये दोनों ही पाप पुण्य शरीरान्तरमें कारण हैं अर्थात् इन्हींसे एक शरीरके पश्चात् अन्य शरीर प्राप्त होता रहता है। विद्याके प्रभावसे इन दोनोंका अश्लेष और विनाश होने से तथा प्रारब्धकर्मका भोगद्वारा क्षय होजानेसे ब्रह्मवित्की शरीरपात के पश्चात् अवश्य मुक्ति होजाती है। संशय—ब्रह्मविद्यासे समस्त पूर्वकर्मोंका जो विनाश कहा गया है क्या वह विनाश प्रारब्ध-

कर्मसहित सब कर्मोंका होता है अथवा प्रारब्ध कर्मोंको छोड़कर। पूर्वपक्ष—प्रारब्ध कर्मोंके सहित ही सर्व कर्मोंका क्षय होता है क्योंकि क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। इस श्रुतिमें सामान्यरूपसे सर्व कर्मोंका क्षय कहा गया है। सिद्धान्त-ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिसे पूर्व जो अनादि कालसे सञ्चित पुण्य और पाप हैं तथा जिन पुण्यों और पापों के फलकी प्राप्तिका प्रारम्भ नहीं हुआ है उन्हींका विद्यासे नाश होता है, अर्थात् प्रारब्ध कार्य का नाश नहीं होता। क्योंकि तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्ये। इस श्रुतिमें अवधि कही गई है कि जब तक देहपात न हो तब तक प्रारब्ध कर्म रहते हैं अतः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इस सामान्यश्रुतिको तस्य तावदेव इस विशेष श्रुतिके अनुसार लापन करनेसे यही सिद्ध होता है कि प्रारब्धकार्यसे अतिरिक्त जो अनादि कालके सञ्चित पुण्य और पाप हैं इन्हींका विद्यासे बिनाश होता है। यज्ञ दान और तपका भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि श्रुति और स्मृतियोंमें उनको भी विद्याका साधन बताया गया है। यज्ञदानतपःकर्म पावनानि मनीषिणाम्। इत्यादि प्रमाणसे यही सिद्ध हुआ कि विद्याका साधन ये तीन हैं। संशय—विद्याके द्वारा उन्हीं कर्मों का नाश होता है जो विद्यासे पूर्वकालमें हो सञ्चित होचुके हैं और जिनका फल अभी तक नहीं मिला है, यह बात पूर्वमें कही गई है। अब यहाँ सन्देह यह होता है कि नित्य कर्तव्यत्वेन विहित अग्निहोत्रादि आश्रमधर्म भी पुण्यकर्म ही हैं। तब विद्यासे इनका भी अश्लेष होता है या नहीं। पूर्वपक्ष—जब सब पुण्य कर्मोंका अश्लेष होता है तो अग्निहोत्र आदि भी तो पुण्यकर्म ही हैं अतः इनका भी

विद्यासे अश्लेष होता है। सिद्धान्त— तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन। अर्थ-उसी सर्वेश्वर भूताधिपति भूतपाल श्रीहरिको ब्राह्मण विद्वान् यज्ञ दान तपस्या और लघ्वाहार आदि साधनोंसे जाननेकी इच्छा करते हैं, इत्यादि श्रुतियों में अग्निहोत्रादि को विद्या का साधन बताया गया है। तब अग्निहोत्रादि विद्याके लिये ही हैं यह सिद्ध हुआ, अत एव इनका अश्लेष नहीं होता है। अतः विद्योत्पत्ति के लिये प्रतिदिन इनका अनुष्ठान करना चाहिये। प्रश्न—यदि अग्निहोत्रादिका विद्योत्पत्ति ही फल है तो तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्। अर्थ—पुत्र उसके उत्तराधिकारी होते हैं। उसके सुकृतको मित्र प्राप्त करते हैं और पापको शत्रु ग्रहण करते हैं। इस वचनको किस विषयमें लगावेंगे। उत्तर—आश्रमधर्मस्वरूप जो यह अग्निहोत्रादि साधु कर्म हैं इनसे अतिरिक्त भी साधुकर्म हैं, जो कि विद्योत्पत्तिसे पूर्व ही उत्पन्न हुये हैं, और किसी बलवान् कर्मके कारण उनका फल रुक गया है। उन्हीं कर्मोंके लिये कितने ही शास्त्रियोंका यह वचन है अतः दोष नहीं है। प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि जिनका फल रुक गया है वैसे भी साधु कर्म होते हैं। उत्तर—यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति। अर्थ—ईश्वरोपासनासे, आस्तिक्य बुद्धिसे और ब्रह्मात्मक ज्ञान से जो किया जाता है उसका फल किसी अन्य प्रबल कर्मसे रुक नहीं सकता है। इस श्रुतिमें कहा गया है कि उद्गीथ विद्याका फल किसी अन्य प्रबल कर्मसे प्रतिबद्ध नहीं होता है। इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि प्रबल कर्म दुर्बल कर्मोंके प्रतिबन्धक होते

हैं। जब प्रबल कर्म प्रतिबन्धक होते हैं तो ऐसी भी कोई साधु कृत्या अवश्य है जिसका फल कर्मान्तरसे रुका हुआ है। उसी साधुकृत्याके लिये कहा गया है कि वह सुहृद्को प्राप्त होती है। संशय—पूर्वमें कहे गये जिन पुण्यों और पापोंका अश्लेष और विनाश होता है उनसे अतिरिक्त जो आरब्धकार्य अर्थात् जिनका फल मिलने लगा है ऐसे जो पुण्य और पाप हैं उनका तच्छरीर के नाश होनेपर नाश होता है अथवा शरीरान्तरके नाश होनेपर नाश होता है। पूर्वपक्ष—तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। इस श्रुतिसे तच्छरीर के नाश होने पर वे आरब्ध-कार्य और पाप नष्ट होते हैं। सिद्धान्त—तस्य तावदेव चिरम्। इस श्रुतिसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मवित् पुरुष प्रारब्ध फलका भोग करके आरब्धकार्य पुण्य और पापका नाश करता है उसके पश्चात् ही ब्रह्मको प्राप्त करता है। जिन पुण्य अथवा पाप कर्मों का फल भोगना है वह यदि एक ही शरीरमें भोगने योग्य हो तो उसी शरीरके अन्तमें ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त करता है। यदि अनेक शरीरमें वे फल भोगने योग्य हों तो अनेक शरीरोंके अन्त में ब्रह्मको प्राप्त करता है। परन्तु यह तो नियम ही है कि आरब्ध कार्य पुण्य और पापका भोगसे ही नाश करके ब्रह्मको प्राप्त करता है। ॥ प्रथमो भागः पूर्णतां गतः ॥

———o———

विद्याकी प्राप्ति और भोगसे पुण्य और पापका नाश करके भोगायतन शरीरको छोड़कर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त करता है यह वस्तु गतपादमें कहा गया है। वह ब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है, इस प्रश्नके उत्तरमें कहेंगे कि अर्चिरादि मार्गके द्वारा परम पदमें जाकर ब्रह्मको प्राप्त करता है। इसीको कहनेके लिये

उत्क्रान्ति किस प्रकारसे होती है प्रथम इसका विचार करते हैं। संशय—अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। इस श्रुति में यह कहा गया है कि वाक् मनमें लीन होजाती है। यहाँ संशय होता है कि वाक्की वृत्तिका मनमें लय होता है अथवा वृत्ति वाली वाक्का ही अर्थात् वागिन्द्रियका ही मनमें लय होता है। इन दोनों पक्षोंमें कौन पक्ष समीचीन है? पूर्वपक्ष—वाक्की वृत्ति का ही मनमें लय होता है क्योंकि कार्य अपने कारणमें लीन होता है, ऐसा प्रायः नियम है। वाक् तो मनका कार्य है नहीं अतः वाक्का लय मनमें नहीं होता। परन्तु श्रुति कहती है कि वाक्का मनमें लय होता है, अतः लक्षणाके द्वारा वाक् शब्दका वाग्वृत्ति अर्थ है, अतः वाक्की वृत्ति ही मनमें लीन होती है। सिद्धान्त—श्रुति में सम्पद्यते का अर्थ है संयुक्त होकर रहना। वाङ् मनसि सम्पद्यते का अर्थ यह है कि वाणी मनमें संयुक्त होकर रहती है। क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि निद्रा आदिके समय वागिन्द्रिय अपने व्यापारसे उपरत होजाता है तो भी मन वागिन्द्रियका व्यापार करता रहता है। अतः यही मानना चाहिये कि वागिन्द्रिय अपने कार्यसे निवृत्त होकर प्रवृत्त कार्य वाले मनमें अन्तर्भूत है। प्रश्न—यदि ऐसा ही मानें कि वाक्की वृत्ति ही मनमें संयुक्त होकर रहती है तो भी मनका वह व्यापार बन सकता है तब वाक्की वृत्तिका ही मनमें संयुक्त होकर रहना क्यों न माना जाय? उत्तर—श्रुतिमें स्पष्ट यही लिखा है कि वाङ् मनसि सम्पद्यते, वाणी मन में संयुक्त होकर रहती है। केवल वाक्की वृत्तिको संयुक्त होकर रहना नहीं कहा है। किञ्च यदि स्वापादिकालमें वृत्तिमात्रकी उपरति हो तो स्वरूपतः वागि-

न्द्रियकी सत्तामें कोई प्रमाण ही नहीं रहेगा। और जो यह कहा था कि वाक् मनका कार्य नहीं अतः उसका मनमें लय नहीं हो सकता वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि सम्पद् धातुका अर्थ यहाँ लय नहीं है किन्तु संयोगमात्र अर्थ है। संयोग कारण और अकारण दोनोंके साथ होता है अतः दोष नहीं है। वाक्का मन में लय नहीं होता है किन्तु संयोगमात्र होता है इसी लिये सर्वाणीन्द्रियाणि वाचमनुमनसि सम्पद्यन्ते। इस श्रुतिमें मनका कार्य न होने पर भी वाणीके पीछे सर्व इन्द्रियोंका जो मन में संयोग कहा गया है वह संगत होता है। तस्मादुपशान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति। अर्थ—शरीरमें उष्णतारहित वह मुमूर्षु जीव जिस वस्तुकी इच्छा वाला होता है उसी इच्छाके साथ पुनर्जन्म लेनेके लिये वागादि १० इन्द्रियोंके साथ प्राणके पास आता है। प्राण जीव से युक्त होकर तेजसे युक्त होता है और आत्माको उसके संकल्पानुसार लोकमें लेजाता है, इस श्रुतिका यही तात्पर्य है। संशय-मनः प्राणे। इस उत्तरवाक्यमें भी संशय होता है कि समस्त इन्द्रियोंके संयोगका आधार जो मन है उसका प्राणमें लय होता है वा संयोगमात्र होता है। पूर्वपक्ष—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" यहाँ पर मनको अन्नका विकार कहा गया है। 'अन्नमसृजन्त' इस श्रुतिमें अन्नको जलका विकार कहा गया है। 'आपोमयः प्राणः' इस श्रुतिमें प्राणको भी जलका विकार कहा गया है। अतः लक्षणावृत्तिसे प्राणका अर्थ प्राणकारणीभूत जल करना चाहिये। तब परम्परा द्वारा मनका कारणभूत जो जल है उसमें मनका लय होता है। सिद्धान्त—मनका प्राणमें लय कहना योग्य नहीं है। इसमें तीन हेतु हैं। प्रथम तो यह कि मन

आहंकारिक अर्थात् अहंकारका कार्य है द्वितीय यह कि प्राण आकाशका कार्य है और तृतीय यह कि प्राण शब्दकी जलमें लक्षणा करनेमें गौरव है। अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः इन श्रुतियोंमें इतना ही कहा गया है कि अन्नादि से मन और प्राणका आप्यायनमात्र अर्थात् संयोगमात्र होता है, अतः मन का प्राणमें संयोग ही होता है लय नहीं। संशय—प्राणस्तेजसि इस उत्तरवाक्यमें यह संशय होता है कि क्या प्राणका तेजमें संयोग होता है अथवा जीवमें। पूर्वपक्ष—प्राणस्तेजसि इस श्रुतिसे प्राणका तेजमें ही संयोग होता है। सिद्धान्त स कारणं करणाधिपाधिपः। इस श्रुतिप्रमाणसे जीव सर्व इन्द्रियोंका अध्यक्ष है। उसी अध्यक्ष जीवमें प्राण संयुक्त होता है क्योंकि एवमेवेममात्मानमन्त काले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। अर्थ—वैसे ही अन्तकालमें जब यह आत्मा चलनेकी इच्छा करता है तब सब प्राण इसके पास आते हैं, सब प्राण इसके सामने आते हैं। इन श्रुतियोंमें यही कहा गया है कि प्राण जीवके पास जाकर संयुक्त होता है। तथा कस्मिन्नुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठास्यामि। अर्थ—उसने विचार किया कि किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और किसके रहने पर मैं रहूँगा। यह श्रुति जीवके संयुक्त होकर उसके साथ तेज में संयुक्त होजाता है। प्रश्न—'प्राणस्तेजसि' इस साक्षात् श्रुतिका विरोध होगा। उत्तर—विरोध नहीं है। जैसे यमुना गंगासे मिल कर समुद्रमें जाती है, साक्षात् नहीं, तो भी यह कहा जाता है कि यमुना समुद्रमें गिरती है। उसी प्रकारसे प्राणका अध्यक्ष

जीवके साथ संयोग होने पर भी प्राण तेजसे संयुक्त होता है यह व्यवहार उपपन्न होजाता है। प्रश्न–'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति वचनके सामञ्जस्य के लिये 'सोऽध्यक्षे' का यह अर्थ क्यों न किया जावे कि प्राणपदवाच्य इन्द्रियोंका मुख्य प्राणमें संगम होता है। उत्तर—ऐसा अर्थ करने से अनेक श्रुतियाँ व्यर्थ होजावेंगी। संशय–पूर्वोक्त यह कहा गया कि जीवसंयुक्त प्राण तेजसे संयुक्त होता है। यहाँ पर यह सन्देह होता है कि क्या वह जीवसमवेत प्राण केवल तेज में ही संयुक्त होता है अथवा तेजःसमवेत सर्व भूतोंमें। पूर्वपक्ष—श्रुतिमें केवल तेजमें संयुक्त होना कहा है अतः केवल तेजमें ही संयुक्त होता है। सिद्धान्त—जीव सहित प्राण तेजके सहित सर्वभूतोंमें संयुक्त होता है क्योंकि पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः। इस श्रुति में आत्मा को सर्वभूतमय कहा गया है। यह तभी सम्भव होसकता है जब सर्वभूतोंके साथ संयोग माना जावे। प्रश्न–तेजःप्रभृति भूतों में से क्रमसे एक एकमें संयोग मानें तो भी तो, पृथिवीमय, यह निर्देश सिद्ध होसकता है। उत्तर–क्रमसे एक एकमें संयोग उपपन्न नहीं होता है क्योंकि एक एकमें पृथक् पृथक् सृष्टि आदि करनेका सामर्थ्य नहीं है, इसी वस्तुको। अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकस्य करवाणि। नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः। महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते। अर्थ—असत् शब्दवाच्य उस परादेवताने यह विचार किया कि जीव शरीरक मैं तेजस् अप् अन्न पृथिवी इन तीनों देवताओंके

भीतर प्रविष्ट होकर देवादि विचित्र सृष्टि और उनके नाम करूँ। अभी यह सब पृथक् पृथक् हैं और अतएव इनमें सृष्टि बनानेका सामर्थ्याभाव है। यह सामर्थ्य उत्पन्न करनेके लिये एक एकको मैं त्रिवृत कर दूँ, अर्थात् तीनोंमें तीनोंको मिला दूँ। सो जीवशरीरक उस परदेवताने उन तीनों देवताओंमें प्रविष्ट होकर नाम और रूपका विधान किया। नाना वीर्य वाले वे जब पृथक् पृथक् थे तब सम्मिलन विना-विना मिले हुये प्रजाकी सृष्टि नहीं कर सके। पश्चात् उन्होंने महत् आदि परस्पर मिल कर इस अण्ड को उत्पन्न किया, ये श्रुतियाँ और स्मृतियाँ कह रही हैं। अतः अन्यभूतों से मिलित तेजका ही यहाँ पर ग्रहण है। संशय— क्या यह जो उत्क्रमण है वह ब्रह्मज्ञानी और अब्रह्मज्ञानी दोनोंका समान ही होता है अथवा अब्रह्मज्ञानीका ही होता है? पूर्वपक्ष—अब्रह्म-ज्ञानीका ही उत्क्रमण होता है, ब्रह्मज्ञानीका नहीं। क्योंकि अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। अर्थ—उसके पूर्व अघोंका नाश होजाता है और उत्तराघोंका अश्लेष होजाता है, और तब उसी ब्रह्मोपासनकालमें वह ब्रह्मका अनुभव करता है। इस श्रुति में ब्रह्मज्ञानीको यहाँ ही अमृत होना कहा है अर्थात् मुक्त होना बताया है, अतः उसका उत्क्रमण नहीं होता है। सिद्धान्त—नाड़ी प्रवेशसे पूर्व अब्रह्मज्ञानीके समान ब्रह्मज्ञानीका भी उत्क्रमण होता ही है। शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृ-तैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। अर्थ—हृदयकी प्रधान नाड़ियाँ १०१ हैं। उनमेंसे एक सुषुम्णा नामकी नाड़ी है, वह मूर्धाकी ओर गई है। उस नाड़ीसे आत्मा ऊपरको ब्रह्मलोकको जाता हुआ स्वरूपाविर्भावरूप मुक्तिको पाता

है। अन्य नाड़ियाँ नाना प्रकारके सांसारिक मार्गोंमें जानेके उपयोगमें आती हैं। इस श्रुतिमें कहा है कि जीवात्मा जाते समय नाड़ीविशेषमें अर्थात् सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश करता है। अतः नाड़ीप्रवेशसे पूर्व ब्रह्मज्ञानी आत्मा भी उत्क्रमण करता ही है। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरेभ्यः। इस बृहदारण्यककी श्रुतिका भी यही तात्पर्य है। अतः 'शतं चैका' इत्यादि श्रुतिसे सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मूर्धामें से जो प्रयाण कहा गया है तथा बृहदारण्यककी श्रुतिके 'मूर्ध्नो वा' इस वाक्यसे जिसका अनुमोदन किया गया है वह प्रयाण ब्रह्मज्ञानीके अभिप्रायसे कहा गया है। तात्पर्य यह है कि अब्रह्मज्ञानीके समान ही ब्रह्मज्ञानीकी भी उत्क्रान्ति तो होती है परन्तु विशेष इतना है कि ब्रह्मज्ञानी सुषुम्णा नाड़ीमें होकर मस्तकमें से निकलता है और जो यह कहा गया है कि नेत्रादिक मार्गसे निकलता है वह अब्रह्मज्ञानीके अभिप्रायसे कहा गया है। प्रश्न—तब अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। इस श्रुतिकी क्या गति होगी? उत्तर—शरीर और इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध जिस कालमें बना रहता है उसी कालमें जो उत्तराघ और पूर्वाघका त्याग होता है उसी त्यागको अमृत शब्दसे कहा गया है। तात्पर्य यह है कि पाप ही तो दुःखका कारण है। उस पापके नाश होजाने पर दुःखका अनुभव नहीं होता है। अतः इसे भी अमृतप्राप्तिकी दशा कहदिया है। यही वस्तु अत्र ब्रह्म समश्नुते। इस श्रुतिके पूर्वार्द्धमें अर्थात् यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। इस श्रुतिमें स्पष्टरूपसे कहा गया है। सुखका कारण पुण्य है और दुःखका कारण पाप है।

ये दोनों पुण्य और पाप हृदयमें रहते हैं। जब इन दोनोंका त्याग होजाता है तभी अमृतत्व मोक्ष सुख मिलता है ऐसा कहा गया है। अत्र ब्रह्म समश्नुते । इस श्रुतिवाक्यका यह अर्थ है कि उपासनाकाल में जो ब्रह्मका अनुभव है उस ब्रह्मानुभवको अर्थात् ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है। देहसम्बन्ध नहीं छूटा है जिसका ऐसे आत्माका ही अमृतत्व जानना चाहिये क्योंकि तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये । अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य । धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि। अर्थ—जैसे अश्व अपने रोमको स्वयं गिरा देता है, छोड़ देता है वैसे ही मैं अपने पापोंको छोड़कर, जैसे चन्द्रमा राहुके मुखसे छूटजाता है वैसे ही मैं इस शरीरसे छूटकर, शरीरको छोड़कर, कृतार्थ होकर नित्य ब्रह्मलोकको प्राप्त होऊँ । इत्यादि श्रुतियोंसे कहा गया है कि जब तक देशविशेष अर्थात् साकेत वैकुण्ठलोकमें जाकर भगवत्प्राप्ति नहीं होती तब तक देहसम्बन्धरूप संसार बना रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर छूटनेसे प्रथम ही ब्रह्मानुभव का नाम अमृतत्व है। ब्रह्मज्ञानीका भी क्रम मुक्तिमें सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध रहता ही है। कैसे जानते हो ? प्रमाणसे ऐसा ही प्रतीत होता है। जब आत्मा अर्चिरादि मार्गसे गमन करता है तब चन्द्रमाके साथ वह वार्तालाप करता है ऐसा तं प्रति ब्रूयात्। इस कौषी-तकि उपनिषद्की श्रुतिमें कहा है। यदि शरीर न हो तो वार्ता-लाप कैसे होसकता है, अतः ज्ञात होता है कि सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध बना ही रहता है। अतएव यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । यह श्रुति शरीरसम्बन्ध के छूटने पर

अमृतत्वका वर्णन नहीं करती है । सूक्ष्म देह रहता है इसी लिये जो शरीरमें उष्णता प्रतीत होती है वह उसी सूक्ष्मदेहका धर्म है । तात्पर्य यह है कि जब कोई मरने लगता है तो उसके स्थूल शरीरमें सर्वत्र उष्णता नहीं प्रतीत होती परन्तु किसी एक स्थानमें तो प्रतीत होती ही है। वह उष्णता यदि स्थूल शरीरका धर्म होती तब तो सर्वत्र स्थूल शरीरमें प्रतीत होती परन्तु ऐसा तो नहीं होता है। अतः ज्ञात होता है कि वह उष्णता सूक्ष्म शरीर की ही है और उसीके साथ ब्रह्मज्ञानी उत्क्रमण करता है। अतः नाड़ीप्रवेशसे पूर्व ब्रह्मज्ञानी और अब्रह्मज्ञानीकी उत्क्रान्ति समान ही होती है । ब्रह्मज्ञानीकी उत्क्रान्ति नहीं होसकती इसी शंका को पुनः उठाकर समाधान करते हैं । प्रश्न—बृहदारण्यक में प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मण इति तु कामयमानः । अर्थ—इस संसारमें फलकी इच्छा रखकर जीव जो कुछ कर्म करता है उस कर्म का भोग द्वारा अन्त पाकर अर्थात् समस्त फल भोगकर उस लोक से पुनः इस लोक में आता है । जब तक उसकी वासना बनी रहती है तब तक इसी प्रकारसे आया जाया करता है। इस श्रुतिसे अविद्वान्के विषय को समाप्त करके अथाकामयमाना योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । अर्थ—वीतरागके विषयमें कहते हैं। जिसके सब काम अभिलाष निकल गये हैं ऐसा जो अकाम है तथा जो आत्मकाम होनेसे आप्तकाम होचुका है, उस जीवमें से प्राण नहीं निकलते । अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्मरूप उसमें प्रादुर्भूत होते हैं और वह ब्रह्ममें इस प्रकारसे मिल जाता है कि ब्रह्म से पृथक् उसका दर्शन ही नहीं होता । अपहतपाप्मत्वादि जो

रूप ब्रह्मका है वही रूप जीवका भी होजाता है। तब अत्यन्त साम्य होनेके कारण ब्रह्मसे पृथक् दृष्ट ही नहीं होता। इस श्रुति से विद्वान्के उत्क्रमणका निषेध किया है अतः विद्वान्का उत्क्रमण नहीं होता है। उत्तर—यहाँ जो निषेध किया है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि शरीरसे प्राण नहीं निकलते हैं प्रत्युत यह तात्पर्य है कि शरीरका जो अधिष्ठाता जीव है उससे प्राण पृथक् नहीं होता है। पूर्वमें 'अकामयमानः' यह जो श्रुति है वह विद्वान् जीवके लिये ही है। अतः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इस वचन में उसी विद्वान् जीवका ही 'तस्य' इस सर्वनामसे परामर्श है। इस प्रकारसे 'तस्य' पदके 'तत्' शब्दसे विद्वान् जीवका कथन हुआ है और उसके आगे जो षष्ठी विभक्ति 'स्य' है उससे उसी जीवका सम्बन्ध कहा गया है। जहाँसे उत्क्रमण होता है वह वस्तु भी जीव ही है, क्योंकि जीव ही संनिहित है, समीपमें प्राप्त है, शरीर नहीं। सम्बन्धमात्रको कहने वाली जो षष्ठी होती है उसका अपादान भी अर्थ माना जाता है। जैसे 'नटस्य शृणोति' इस वाक्यमें नटस्य यह षष्ठी है परन्तु इसका अपादानत्वरूप भी अर्थ होता है, अतएव नटसे सुनता है यह अर्थ होता है। इस अर्थमें कोई विवाद नहीं है। क्योंकि माध्यन्दिनलोक अर्थात् बृहदारण्यकके अनुयायी लोक स्पष्ट ही आत्माको अपादान मानते हैं। जैसा कि योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति। यहाँ 'तस्मात्' यह पद आत्माके लिये ही आया हुआ है। भाव यह है कि विद्वान्को शरीरत्यागके समय में ही ब्रह्मप्राप्ति होजाती है। ऐसा तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये। इस श्रुतिसे कहा गया है। तब उसके पश्चात् प्राणवियोग भी सम्भव है। नहीं तो प्राणरहितका अर्चिरादि मार्गसे

गमन और ब्रह्मकी प्राप्ति दोनों ही नहीं बन सकते हैं। अतः ब्रह्मप्राप्तिसे पूर्व विद्वान्के प्राण नहीं निकलते हैं। ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्॥ इस स्मृतिसे भी यही कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानीका मूर्धन्य नाड़ी, सुषुम्णा नाड़ी, द्वारा उत्क्रमण होता है। देहेन्द्रिय और प्राणोंके सहित जीव उत्क्रमणके समयमें तेज आदि सूक्ष्मभूतोंमें सम्पन्न होता है अर्थात् उनसे संयुक्त होता है यह वस्तु पीछे कहा जा चुका है। संशय—जीवसहित वे सूक्ष्मभूत फल भोगके लिये यथायोग्य स्थानोंमें जाते हैं अथवा ब्रह्ममें मिल जाते हैं ? पूर्वपक्ष—कर्म और ज्ञानके अनुसार फल भोगनेके लिये यथायोग्य स्थानोंमें वे जाते हैं। सिद्धान्त—जीवसहित वे सूक्ष्मभूत परमात्मामें मिल जाते हैं। क्योंकि 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इस प्रकारसे श्रुतिमें लिखा है। सुषुप्तिमें जिस प्रकारसे सत्सम्पन्न जीवको दुःख नहीं होता और मैं सुखसे सोया ऐसा सुखानुभव होता है वैसे ही यहाँ भी परदेवतासम्पन्न जीवको दुःखानुभव नहीं होता और सुखानुभव होता है। श्रुतिके अनुसार ही व्यवस्था करना योग्य है। संशय—पृथिव्यप्सु लीयते। इस श्रुतिके अनुसार जैसे पृथिवी आदि अपने अपने कारणमें लीन होकर कारणस्वरूप ही बनजाते हैं क्या उसी प्रकारसे यह जीवसहित सूक्ष्मभूत भी परमात्मामें मिलकर परमात्मस्वरूप होजाते हैं अथवा 'वाङ् मनसि सम्पद्यते' इस श्रुतिके अनुसार मिलकर कारणस्वरूप तो नहीं होते परन्तु अविभक्त स्वरूपसे परमात्मामें रहते हैं। पूर्वपक्ष—परमात्मा ही वस्तुमात्रका कारण है। सब पदार्थ अपने कारण परमात्मामें लीन होकर परमात्मस्वरूप हो

जाते हैं। सिद्धान्त—विभागके प्रतिद्वन्द्वी संयोगको अविभाग कहते हैं। अविभाग अर्थात् अपृथक्भावसे वे परमात्मामें रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परमात्माके साथ विलक्षण संयोगका नाम ही परमात्मसम्पत्ति है। प्रश्न—आप कहते हैं कि परमात्माके साथ विलक्षण संयोगको परमात्मसम्पत्ति कहते हैं तो संयोगमें किस प्रकारकी विलक्षणता आप मानते हैं? उत्तर—पृथग्व्यवहारानर्हत्वरूप विलक्षणता हम मानते हैं। अर्थात् अमुक पदार्थ भगवान्से पृथक् है इस प्रकारका व्यवहार जिस संयोग में नहीं होता उसी संयोगको हम विलक्षण संयोग कहते हैं। प्रश्न—आप विलक्षणसंयोगरूप ब्रह्मसंपत्ति मानते हैं और परमात्मामें लीन होकर कारणस्वरूपापत्ति नहीं मानते इसमें क्या कारण है? उत्तर—'वाङ् मनसि सम्पद्यते' इस श्रुतिमें जो सम्पद्यते क्रिया है उसका अर्थ विलक्षणसंयोग होता है, यह पूर्वमें कहा जाचुका है। वही सम्पद्यते क्रिया 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इस श्रुतिवाक्यमें भी अन्वित होती है अतः वहाँ भी वही अर्थ होसकता है अन्य नहीं। विद्वान् अविद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी और अब्रह्मज्ञानी दोनोंका ही उत्क्रमण समान ही होता है। अब ब्रह्मज्ञानीके संबंध में कुछ विशेष कहते हैं। संशय—शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति। इस श्रुतिमें यह संशय होता है कि क्या ब्रह्मज्ञानीका उत्क्रमण १०१ वीं जो मूर्धन्य नाड़ी है अर्थात् सुषुम्णा नाड़ी है उसीसे होता है और अब्रह्मज्ञानीका उत्क्रमण अन्य नाड़ियोंसे ही होता है, ऐसा नियम होसकता है या नहीं। पूर्वपक्ष—यह नियम नहीं होसकता क्योंकि नाड़ियाँ तो अनेक हैं। उनमें मूर्धन्य नाड़ी कहाँ है और कौन है इसे जानना ब्रह्मज्ञानी

के लिये असम्भव है। सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञानीका उत्क्रमण मूर्धन्य नाड़ीसे ही होता है और अब्रह्मज्ञानीका उत्क्रमण उससे भिन्न नाड़ियोंसे ही होता है, यह नियम ही है। प्रश्न—नाड़ी तो पहचानी नहीं जासकती है तब मूर्धन्य नाड़ीसे ही उत्क्रमण होता है यह नियम कैसे बन सकता है? उत्तर—भगवान्‌की उपासनाका अर्चिरादि द्वारा गति भी एक अङ्ग है इसका अनुसन्धान करने से वह उपासक ब्रह्मज्ञानी भगवान्‌का कृपापात्र बन जाता है। भगवान्‌की कृपासे उस जीवका निवासस्थान जो हृदय है उसके आगे प्रकाश उत्पन्न होजाता है। उस प्रकाशसे उसको जिस द्वार में प्रवेश करना होता है वह प्रकाशित होजाता है, उसीसे वह मूर्धन्यनाड़ी अर्थात् सुषुम्णा नाड़ीको पहचान लेता है। इस प्रकारसे उसी नाड़ी द्वारा ब्रह्मज्ञानीका गमन बन सकता है। संशय—अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रमत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। इस श्रुतिसे यह जाना गया कि सुषुम्णा नाड़ीसे निकला हुआ ब्रह्मज्ञानी सूर्यकी किरणोंके द्वारा ऊपर जाता है, परन्तु यहाँ संशय यह है कि ब्रह्मज्ञानीकी गति आदित्यरश्मिके द्वारा ही होसकती है अथवा दूसरे प्रकारसे भी। पूर्वपक्ष—ब्रह्मज्ञानीकी गति प्रकारान्तरसे भी होसकती है क्योंकि आदित्यरश्मिके द्वारा ही उसका गमन होता है यह नियम असम्भव है। प्रश्न—तब तो आदित्यरश्मियोंके द्वारा ब्रह्मज्ञानीकी गति बताने वाली श्रुति व्यर्थ होजावेगी। उत्तर—नहीं, हम तो दोनों प्रकार मानते हैं। अतः सूर्यरश्मिके द्वारा भी गमन होता है और प्रकारान्तरसे भी होता है। तब प्रथम प्रकार में वह श्रुति चरितार्थ है। सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञानी आदित्यरश्मिके द्वारा ही ऊपर जाता है, प्रकारान्तरसे नहीं। प्रश्न—आदित्यरश्मिके द्वारा ही

ब्रह्मज्ञानी ऊपर जाता है यह आप कैसे जानते हैं? उत्तर—श्रुतिमें कहा है कि ऐतैरेव रश्मिभिः। अर्थात् इन रश्मियोंके ही द्वारा ब्रह्मज्ञानी ऊपर जाता है। यदि प्रकारान्तरसे भी ऊर्ध्वगमन होता तो रश्मिद्वारा ही ऐसा भार देने वाला एव शब्दका प्रयोग श्रुतिमें न होता। यदि प्रकारान्तरसे गमन मानोगे तो श्रुतिका वह एव पद व्यर्थ होजावेगा। प्रश्न—दिनमें तो सूर्य रहता है अतः नाड़ी और सूर्यकी रश्मियोंके साथ दिनमें सम्बन्ध रहने से दिनमें मरा हुआ ब्रह्मज्ञानी सूर्यरश्मियोंके द्वारा सूर्यको प्राप्त करके ऊपर जाता है, परन्तु रात्रिमें तो सूर्य होता नहीं। सूर्यके अभावमें सूर्यरश्मि भी नहीं होते। तब रात्रिमें मरने वाले ब्रह्मज्ञानीका रश्मिका अनुसरण करना ही उपपन्न नहीं होता है तो ऊर्ध्वगमन तो उसके द्वारा कैसे होसकता है? उत्तर—जब तक देह रहता है तब तक नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध बना ही रहता है। अतः रात्रिमें भी मरा हुआ ब्रह्मज्ञानी रश्मियोंके द्वारा सूर्यलोकमें जाकर उसके द्वारा ब्रह्म प्राप्त करता है यह बात बन सकती है। प्रश्न—क्या प्रमाण है कि जब तक देह रहता है तब तक नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध बना रहता है? उत्तर—अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः। अर्थ—इसी आदित्यमेंसे वह फैलती है और इन नाड़ियोंमें प्रविष्ट होती है। तथा इन नाड़ियोंमें से जो रश्मियां निकलती हैं वह आदित्यमें प्रविष्ट होती हैं। यह श्रुति बताती है कि जब तक देह रहता है तब तक नाड़ी और रश्मियोंका सम्बन्ध बना रहता है। प्रश्न—रात्रिमें भी सूर्य रश्मि रहते हैं यह कैसे जाना जा सकता है? उत्तर-उष्ण ऋतुमें अथवा वर्षा ऋतुमें भी रात्रिमें उष्णता प्रतीत होती है। उष्णता

सूर्यकी किरणोंके बिना हो नहीं सकती, अतः वही उष्णता बताती है कि रात्रिमें भी सूर्यरश्मि रहते हैं। प्रश्न—शिशिर और हेमन्त आदि ऋतुओंमें तो रात्रिमें उष्णता नहीं प्रतीत होती है तब कैसे माना जावे कि रात्रिमें भी सूर्यरश्मि रहते हैं ? उत्तर—शीत ऋतुओंमें भी रात्रिमें उष्णता रहती तो अवश्य है परन्तु शीतलताके वेगसे वह अभिभूत होजाती है, दब जाती है, अतएव उसकी प्रतीति नहीं होती। अतः रात्रिमें भी मरा हुआ ब्रह्मज्ञानी आदित्यरश्मिके द्वारा आदित्यलोकमें पहुँच कर ब्रह्मको प्राप्त करता है। रात्रिमें मरने वाले ब्रह्मज्ञानीको भी रश्म्यनुसारी कह कर अब यह विचार करते हैं कि संशय—रात्रिमें मरे हुए ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मप्राप्ति होती है या नहीं ? पूर्वपक्ष—रात्रिमें मरनेवाले ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती है क्यों कि दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम् ॥ इस वाक्यसे रात्रिमें होने वाले मरणकी निन्दा की गई है। सिद्धान्त—ब्रह्मज्ञानीका कर्मोंके साथ सम्बन्ध तभी तक रहता है जब तक कि देह रहता है। अतः तुम्हारा कथन ठीक नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि अनारब्ध कार्य कर्म ही तो बन्धनके कारण होते हैं। वह तो भगवदुपासनारूप विद्यासे नष्ट ही हो चुके हैं। भविष्यमें जो होनेवाले कर्म हैं उनका अश्लेष ही रहता है अर्थात् संस्पर्ग ही नहीं होता। प्रारब्धकर्मोंकी स्थिति तभी तक रहती है जब तक कि अन्तिम देह रहता है। तब अब बन्धनका कारणभूत एक भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहा, अतः रात्रिमें मरने वाले ब्रह्मज्ञानीको भी ब्रह्मप्राप्ति होती है। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये। यह श्रुति भी ऐसा ही

कहती है। संशय—दक्षिणायनमें मरनेवाले ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मप्राप्ति होती है या नहीं ? पूर्वपक्ष—दक्षिणायनमें मरने वालेको ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। क्योंकि अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमस्सायुज्यं गच्छति। तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते। इन श्रुतियों में यह कहा गया है कि दक्षिणायनमें मरने वाला ब्रह्मज्ञानी चन्द्रमाके साथ सायुज्य प्राप्त करके पुनः लौट आता है। यही कारण है कि ब्रह्मोपासना करने वाले भीष्मपितामह आदि उत्तरायण काल की प्रतीक्षा करते थे। भारतका यह वचन तभी युक्त होसकता है कि जब उपर्युक्त मेरा कथन सत्य माना जावे। अतः दक्षिणायनमें मरने वाले को ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। सिद्धान्त—बन्धन का तो अब कोई कारण रहा नहीं अतः दक्षिणायनमें मरने वाले ब्रह्मज्ञानीको भी ब्रह्मप्राप्ति होती है। यह जो कहा गया है कि चन्द्रलोकसे पीछे आना पड़ता है वह तो पितृयाण मार्गसे चन्द्रमण्डल तक पहुँचने वाले अब्रह्मज्ञानियोंके लिये है, ब्रह्मज्ञानी के लिये नहीं। प्रश्न—आपके इस कथनमें क्या प्रमाण है ? उत्तर—उसी श्रुतिके अन्तमें लिखा है कि तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति। इससे ज्ञात होता है कि दक्षिणायनमें भी मरने वाले ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मप्राप्ति होती है। तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति। इस श्रुतिमें भी कर्मबन्धनोंसे छूटे हुये ब्रह्मज्ञानीको अर्चिरादि मार्ग द्वारा जाकर ब्रह्मप्राप्तिका वर्णन किया गया है। प्रश्न तब दक्षिणायनमें मरने वाले ब्रह्मज्ञानीको चन्द्रलोककी प्राप्ति क्यों लिखी है ? उत्तर—मार्गमें विश्राम करनेके लिये ऐसा लिखा है। अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध न हो अतः ऐसी ही योजना उस

वाक्यकी करनी चाहिये । तथा भीष्मादि जो उत्तरायणकालकी प्रतीक्षा करते थे वह आचार तो केवल उत्तरायणकालका महत्त्व बतानेके लिये था । प्रश्न—यत्र काले त्वनावृत्तिं आवृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ । अग्नि-ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ इत्यादि स्मृतियोंमें ऐसा क्यों कहा गया है कि जो उत्तरायणमें मरता है वही पुनः लौट कर नहीं आता । उत्तर—अथ तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्य-माणपक्षम् । इस क्रमसे अर्चि अहः शुक्लपक्ष आदिकी प्राप्तिका श्रवण इस श्रुतिमें होता है । एकको ही एक ही कालमें इन सब मार्गोंकी प्राप्ति नहीं होसकती । अग्नि आदिका अर्थ कालपरक नहीं होसकता, अतः कालशब्दकी कालकी अभिमानिनी आति-वाहिक देवताओंमें लक्षणा है । प्रश्न—काल शब्दको कालाभिमा-निनी आतिवाहिक देवताओंमें लक्षणा है इसमें क्या हेतु है ? उत्तर-प्रथम तो यह हेतु है कि जिस कालमें मर कर योगी पुनः लौटकर नहीं आता उस कालको मैं हे अर्जुन तुझे सुनाता हूँ यह कहकर 'अग्निर्ज्योतिरहः' इत्यादि श्लोक कहा गया है । प्रतिज्ञा तो यह हुई है कि मैं तुम्हें अनावृत्तिकाल सुनाता हूँ और सुनाने लगे अग्नि ज्योति अहन् इत्यादि । अग्नि आदि शब्द कालवाचक तो हो नहीं सकते अतः अगत्या कालशब्दकी कालाभिमानिनी देवता में लक्षणा करनी पड़ती है । द्वितीय हेतु यह है कि सन्दिग्धं तु वाक्यशेषात् । इस न्यायसे उपक्रममें आये हुये संदिग्धअर्थक कालशब्दका शुक्लकृष्णे गती ह्येते । नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन । इस उपसंहारमें आये हुये सृतिपदके अनुसार

अर्थ करना चाहिये। तभी उपक्रम और उपसंहारका अर्थैक्य हो सकता है। यह जो शुक्ल और कृष्ण दो गति हैं वह तो योगके अंग हैं, अत एव सतत स्मरण करने योग्य हैं। स्मरण करनेके लिये ही गीताचार्य श्रीप्रभुने कहा है कि 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन। तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन'। अतः इन सब युक्तियोंसे यह सिद्ध हुआ कि मुमूर्षुके प्रति काल का कोई नियम नहीं है। इस प्रकारसे अतीत ग्रन्थसे ब्रह्मज्ञानी का उत्क्रमण कहा गया। अब जब तक ब्रह्मप्राप्ति न हो तब तक के जोवके मार्गका विचार करते हैं। भिन्न भिन्न श्रुतियोंमें भिन्न भिन्न मार्गका निरूपण किया गया है। यथा छांदोग्यमें ते अर्चिष-मभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः । ऐसा कहा गया है। उसी उपनिषद् के ८ वें प्रपाठकमें अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। ऐसा कहा गया है जो कि पूर्वकथितसे भिन्न है। बृहदारण्यकमें यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति। ऐसा कहा गया है। कौषीतकि उपनिषद्में स एवं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोक-मागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्। ऐसा कहा गया है। संशय—यहाँ संशय यह होता है कि नाना श्रुतियोंमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादित मार्गोंसे उपासक विना किसी नियमके अर्थात् कभी किसी मार्गसे और कभी किसी मार्गसे जाता है अथवा जानेका एक ही अर्चिरादि मार्ग है और उसके भिन्न भिन्न विशेषण दिये गये हैं। पूर्वपक्ष—भिन्न भिन्न प्रकरण में भिन्न प्रकारसे इन मार्गोंका निरूपण हुआ है अतः सब मार्ग भिन्न ही हैं और उपासक जीव इन सब मार्गोंसे विना किसी नियमके

जाता है। श्रुतियोंमें ऐसा ही कहा गया है। सिद्धान्त—सब श्रुतियोंमें एक ही मार्ग कहा गया है। केवल उस मार्गके विशेषण भिन्न भिन्न दिये गये हैं, अतः सब ब्रह्मज्ञानी अर्चिरादि मार्गसे ही जाते हैं, क्योंकि श्रुतियोंमें उसी मार्गकी प्रसिद्धि है। मार्ग बताने वाली जितनी श्रुतियाँ हैं सबका एक ही अर्थमें तात्पर्य है, इसी लिये प्रकरणभेदसे मार्गभेद भी नहीं है। अन्यत्र कहे हुये पदोंका उपसंहार अन्यत्र किया जाता है, अन्यत्र कहे हुये विषयोंका उपसंहार अन्यत्र किया जाता है, ऐसा प्रायः होता है। विद्याके अंग यदि कर्मप्रकरणमें कहे गये हों तो उनका ग्रहण कर्ममें नहीं होता है परन्तु विद्यामें ही होता है। अतः इसी नियम से यहाँ भी सब श्रुतियोंकी एकवाक्यता होनेसे यही सिद्ध होता है कि सब श्रुतियाँ एक अर्चिरादि मार्गका ही प्रतिपादन करती हैं। अतः ब्रह्मप्राप्तिका अर्चिरादिरूप एक ही मार्ग है यह सिद्ध हुआ। अब अर्चिरादि मार्गके भिन्न भिन्न श्रुतियोंमें जो भिन्न भिन्न क्रम बताये गये हैं उनकी व्यवस्था की जाती है। छान्दोग्यमें लिखा है कि मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्। इससे यह ज्ञान होता है कि मास और आदित्यके मध्यमें संवत्सर है। बृहदारण्यककी मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्। इस श्रुति से यह ज्ञात होता है कि मास और आदित्यके मध्यमें देवलोक है। उसी बृहदारण्यकके पञ्चम अध्यायमें यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते। यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति। अर्थ—जब ब्रह्मज्ञानी पुरुष इस लोकसे प्रयाण करता है तब अर्चि अहः शुक्लपक्ष उत्तरायण संवत्सर आदिके द्वारा वायु-

लोकमें आता है। तब वायु अपने अवयवोंमें छिद्र कर देता है। कितना बड़ा छिद्र करता है ? रथके चक्रमें जितना बड़ा छिद्र होता है उतना बड़ा। तब उसीमें से वह ऊपर जाता है और आदित्यलोकको पाता है। इन श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि आदित्य से प्रथम वायु है। कौषीतकिकी स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-लोकमागच्छति स वायुलोकम्। इस श्रुतिसे यह ज्ञात होता है कि अर्चिसे आगे वायु है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान् होता है इस नियमसे कौषीतकिके अनुयायियोंका जो पाठक्रम है वह निर्बल है और तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते। इस श्रुतिका क्रम बलवान है क्योंकि कौषीतकि श्रुतिमें ऊपर नीचे बताने वाला स्पष्ट कोई पद नहीं है और इस श्रुतिमें स्पष्ट ऊर्ध्वम् पद आया हुआ है। तब उससे यह सिद्ध हुआ कि आदित्यसे पूर्व वायुलोक है। तब यह भी निश्चित होगया कि आदित्यसे पहले और संवत्सरसे आगे देवलोक और वायुलोक है। संशय—अब यहाँ संशय यह होता है कि वायु और देवलोक इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है वा भिन्न अर्थ है। यदि इन दोनोंका भिन्न भिन्न अर्थ है तब तो जिस ज्ञानीको जो मार्ग इष्ट होगा उसीसे वह जावेगा। यदि भिन्न भिन्न अर्थ नहीं है तो संवत्सरसे ऊपर देव-लोक नाम वाले वायुलोकमें जावेगा। अर्थात् इस पक्षमें वायुका ही नाम देवलोक हुआ। इन दो पक्षोंमेंसे कौन पक्ष युक्त है। पूर्वपक्ष—वायु और देवलोक इन दोनों शब्दोंका भिन्न भिन्न अर्थ है क्यों कि भिन्न २ अर्थमें ही इनकी प्रसिद्धि है। अतः जिस ज्ञानीको जो इष्ट है उस मार्गसे जाता है। सिद्धान्त—संवत्सरके ऊपर वायु-लोकमें जाता है, क्योंकि देवलोक शब्दका अर्थ भी वायु ही है।

देवानां लोकः देवताओंका लोक इस अविशेष सामान्य व्याख्यान से यही सिद्ध होता है। लोकका अर्थ निवासस्थान होता है। देवताओंका निवासस्थान वायु है यह तो योऽयं पवते एष एव देवानां गुहा। इस श्रुतिसे ही सिद्ध है। तथा अन्यत्र यह कहा गया है कि स वायुमागच्छति। अर्थात् वह वायुलोकमें जाता है। यहाँ विशेषरूपसे वायुका नाम लिया गया है। इस लिये अविशेष देवलोक शब्द और विशेष वायु शब्द इन दोनोंसे वायु ही कहा जाता है। संवत्सरसे पर वायुको प्राप्त होता है इस लिये संवत्सर और आदित्यके मध्यमें वायुका सन्निवेश करना चाहिये यही इसका हृदय है अर्थात् मुख्य तात्पर्य है। संशय— स एतं देवयानम्। यह कौषीतकि श्रुति है। इसमें जिस क्रमसे जिस जिस लोककी प्राप्ति लिखी है क्या उस पाठका अनुसरण करके वरुणादिका वायुके पश्चात् निवेश करना चाहिये अथवा विद्युत्लोकके ऊपर? पूर्वपक्ष—कौषीतकि का पाठ व्यर्थ न हो इसके लिये वरुणादिका कहीं तो निवेश करना आवश्यक है ही। विद्युत्के ऊपर तो उनका निवेश कर नहीं सकते क्योंकि तत्पुरुषोऽमानव स एतान् ब्रह्म गमयति। इस श्रुतिसे तडित्पुरुषको ही ब्रह्मका प्रापक कहा गया है। यदि तडित्के ऊपर वरुणादि हों तो उनमेंसे ही कोई ब्रह्मका प्रापक होजावेगा और तडित् पुरुषको प्रापक कहने वाली श्रुति व्यर्थ होजावेगी। तब अन्यत्र तो अवकाश है नहीं अतः वायुके ऊपर वरुणादिका निवेश करना चाहिये। सिद्धान्त—तडित् के ऊपर ही वरुण का निवेश करना चाहिये। क्योंकि तडित् मेघमें रहती है। वहाँ ही वरुण भी है। अतः मेघ में रहनेके कारण वरुणके साथ विद्युत्का सम्बन्ध सर्वप्रसिद्ध है।

पाठ व्यर्थ न हो इसके लिये कहीं तो निवेश करना ही चाहिये। पाठक्रमकी अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है। अतः बलवान् अर्थक्रमके अनुसार विद्युत्के ऊपर वरुणका निवेश करना चाहिये। उसके ऊपर अन्यत्र कहे हुए जो इन्द्र आदि हैं उनका निवेश करना चाहिये। इस प्रकारके निवेशमें आगन्तूनामन्ते निवेशः। पीछेसे बढने वालोंका अन्तमें निवेश करना चाहिये, यह न्याय ही प्रमाण है। इससे यह क्रम सिद्ध हुआ कि नाड़ीरश्मिके प्रवेश के अनन्तर अर्चिष्-अग्निलोकमें जीव जाता है वहाँसे दिनमें, वहाँसे शुक्लपक्षमें, वहाँसे उत्तरायण मासोंमें, वहाँसे संवत्सरमें वहाँसे वायुमें, वहाँसे आदित्यमें, वहाँसे चन्द्रमामें, वहाँसे वैद्युतमें, वहाँसे वरुण में, वहाँ से इन्द्रलोक में और वहाँ से ब्रह्माजीके लोक में पहुँच कर उसके पश्चात् विरजा नदीमें स्नान करके श्रीसाकेत-लोकके द्वारमें प्राप्त होता है। संशय—ये अर्चिरादि क्या हैं? क्या मार्गके चिन्ह हैं अथवा भोगोंके स्थानविशेष हैं अथवा ब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा वालोंके आतिवाहिक हैं अर्थात् लेजाने वाले देवविशेष हैं? पूर्वपक्ष—ये सब मार्गके चिन्हविशेष हैं क्योंकि लौकिक उपदेशके समान निर्दिष्ट हैं। जैसे लोकमें कोई कहे कि अयोध्याजीसे निकल कर कानपुर जाना, वहाँ से आगरा जयपुर और अजमेर जाना। वहाँ से आबू पर्वत होकर सिद्धपुरमें सरस्वती नदीके तट पर पहुँचना। वैसा ही यह निर्देश है। अथवा ये सब भोगस्थान ही हैं क्योंकि अग्निलोक, वायुलोक, आदित्य लोक आदि लोकोंका निर्देश किया है। लोक तो भोगके ही स्थान हैं। सिद्धान्त—ये अर्चिरादि देवताविशेष ब्रह्मज्ञानियोंको ब्रह्मके पास लेजाने वाले हैं। भगवान्ने इसी कार्यके लिये इन्हें नियुक्त किया है। प्रश्न—कैसे जानते हो कि ये सब आतिवाहिक हैं?

पाठ व्यर्थ न हो इसके लिये कहीं तो निवेश करना ही चाहिये। पाठक्रमकी अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है। अतः बलवान् अर्थक्रमके अनुसार विद्युत्के ऊपर वरुणका निवेश करना चाहिये। उसके ऊपर अन्यत्र कहे हुए जो इन्द्र आदि हैं उनका निवेश करना चाहिये। इस प्रकारके निवेशमें आगन्तूनामन्ते निवेशः। पीछेसे बढने वालोंका अन्तमें निवेश करना चाहिये, यह न्याय ही प्रमाण है। इससे यह क्रम सिद्ध हुआ कि नाड़ीरश्मिके प्रवेश के अनन्तर अर्चिष्-अग्निलोकमें जीव जाता है वहाँसे दिनमें, वहाँसे शुक्लपक्षमें, वहाँसे उत्तरायण मासोंमें, वहाँसे संवत्सरमें वहाँसे वायुमें, वहाँसे आदित्यमें, वहाँसे चन्द्रमामें, वहाँसे वैद्युतमें, वहाँसे वरुण में, वहाँसे इन्द्रलोक में और वहाँ से ब्रह्माजीके लोक में पहुँच कर उसके पश्चात् विरजा नदीमें स्नान करके श्रीसाकेत-लोकके द्वारमें प्राप्त होता है। संशय—ये अर्चिरादि क्या हैं? क्या मार्गके चिन्ह हैं अथवा भोगोंके स्थानविशेष हैं अथवा ब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा वालोंके आतिवाहिक हैं अर्थात् लेजाने वाले देवविशेष हैं? पूर्वपक्ष—ये सब मार्गके चिन्हविशेष हैं क्योंकि लौकिक उपदेशके समान निर्दिष्ट हैं। जैसे लोकमें कोई कहे कि अयोध्याजीसे निकल कर कानपुर जाना, वहाँ से आगरा जयपुर और अजमेर जाना। वहाँ से आबू पर्वत होकर सिद्धपुरमें सरस्वती नदीके तट पर पहुँचना। वैसा ही यह निर्देश है। अथवा ये सब भोगस्थान ही हैं क्योंकि अग्निलोक, वायुलोक, आदित्य लोक आदि लोकोंका निर्देश किया है। लोक तो भोगके ही स्थान हैं। सिद्धान्त—ये अर्चिरादि देवताविशेष ब्रह्मज्ञानियोंको ब्रह्मके पास लेजाने वाले हैं। भगवान्ने इसी कार्यके लिये इन्हें नियुक्त किया है। प्रश्न—कैसे जानते हो कि ये सब आतिवाहिक हैं?

उत्तर—ऐसा ही लिंग देखनेमें आता है। जाते हुओंको लेजाना ही आतिवाहिकता है अर्थात् जाते हुओं को लेजाने वाला ही आतिवाहिक कहा जाता है। सो तो 'स एतान् ब्रह्म गमयति' इस उपसंहार वाक्यसे स्पष्ट ही दीख पड़ता है। इसी वाक्यके अनुरोधसे विद्युत्‌के अर्चिरादि शब्द अर्चिरादि अभिमानिनी देवताओं के अर्थको कहते हैं यह बात तो पहले ही कही जाचुकी है। प्रश्न—'स एतान् ब्रह्म गमयति' इस श्रुतिसे इतना ही ज्ञात होता है कि विद्युत्‌लोकसे आया हुआ पुरुष जीवको ब्रह्मपर्यन्त लेजाता है। तब वह तो आतिवाहिक हुआ परन्तु अन्य वरुणादि कैसे आतिवाहिक हैं। उत्तर—विद्युत्‌लोकसे आये हुए देवके ही साथ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मपर्यन्त जाते हैं, अतः मुख्यतया तो वही आतिवाहिक हैं। क्योंकि श्रुति ही कहती है कि 'स एतान् ब्रह्म गमयति'। वरुणादिको जो आतिवाहिक कहा जाता है वह तो इस लिये कि उस वैद्युत अमानव पुरुषकी ये सब सहायता करते हैं अर्थात् आदर करते हैं। ब्रह्मज्ञानियोंका अर्चिरादि मार्ग द्वारा गमन तथा अर्चिरादि मार्गका स्वरूप ये दो वस्तु कहे जाचुके। अब यह विचारते हैं कि संशय—ये अर्चिरादि कार्य हिरण्यगर्भके उपासकोंको हिरण्यगर्भ तक लेजाते हैं अथवा परब्रह्मके उपासकोंको ब्रह्मतक लेजाते हैं अथवा ब्रह्मात्मक मान कर प्रत्यगात्माके उपासकों को ब्रह्म तक लेजाते हैं। वादरि आचार्य यह मानते हैं कि हिरण्यगर्भके उपासकोंको अर्चिरादि हिरण्यगर्भ तक लेजाते हैं क्योंकि हिरण्यगर्भ परिच्छिन्न है, देशविशेष में रहता है, उसकी प्राप्तिके लिये उपासकका गमन युक्त है। परब्रह्म तो सर्वव्यापक है, सबका आत्मा है, उसकी प्राप्तिके लिये कहीं जाना युक्त नहीं हो सकता है। पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। इस श्रुति

में ब्रह्मलोक शब्दके आगे बहुवचन प्रत्ययका निर्देश हुआ है। वह बहुवचनान्त लोक शब्द ब्रह्मका विशेषण है इस लिये, तथा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये। इस श्रुतिमें यह कहा गया है कि जीव ब्रह्मलोकमें जाकर यह अनुसन्धान करता है कि मैं प्रजापतिकी सभामें प्राप्त हुआ हूँ इस लिये भी अर्चिरादि हिरण्यगर्भ तक लेजाता है। प्रश्न—यदि ऐसा सिद्धान्त हो कि उपासक को अर्चिरादि हिरण्यगर्भलोकमें लेजाते हैं तो स एनान् ब्रह्म गमयति। इस श्रुतिमें ब्रह्मको नपुंसक लिंगसे क्यों निर्देश किया? क्योंकि ब्रह्माका वाचक जो ब्रह्मन् शब्द है वह तो पुल्लिंग ही है। उत्तर—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्। इन श्रुतियोंमें कहा गया है कि सृष्टिके आरम्भमें सबसे प्रथम भगवान्ने ब्रह्माको ही बनाया। प्रथम जन्म होनेके कारण ब्रह्मा ब्रह्मके बहुत समीप माने गये हैं। इसी सामीप्यको लेकर ब्रह्माके लिये भी ब्रह्म शब्दका प्रयोग उपपन्न है। प्रश्न—आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। गीताके इस वाक्य में तो यह कहा गया है कि हिरण्यगर्भको प्राप्त करके जीव पुनः लौट आता है। तब अर्चिरादि मार्गसे गये हुएके लिये तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति। इस श्रुति से यह कहना कि वह अमृत हो जाता है अर्थात् पुनः नहीं लौटता है यह कैसे उपपन्न होसकता है। उत्तर—हिरण्यगर्भ ब्रह्मलोकका अधिकारी है। इस लोकमें गया हुआ जीव वहाँ ही विद्या प्राप्त करता है। जब महाप्रलयमें ब्रह्मलोकका नाश होजाता है तब उसी अधिकारी हिरण्यगर्भके साथ विद्वान् जीव भी हिरण्यगर्भलोकसे ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है। क्योंकि ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।

इस श्रुतिमें ऐसा ही कहा है । ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति-संचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् । अर्थ—प्रलयके प्राप्त होने पर ब्रह्मलोकके नाश होजाने पर ब्रह्माजीके साथ ही विद्वान् जीव परपदमें परधाममें प्रवेश करते हैं । इस स्मृतिवचनसे भी यही प्रतीत होता है कि हिरण्यगर्भ के उपासकोंको ही अर्चिरादि मार्ग लेजाता है । जैमिनि आचार्य यह मानते हैं कि परब्रह्मोपासकको अर्चिरादि परब्रह्मलोकमें लेजाते हैं क्योंकि स एनान् ब्रह्म गमयति । इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म शब्द मुख्यत्वेन परब्रह्मको ही कहता है । लक्षणा यहाँ नहीं मान सकते क्योंकि वह तात्पर्यकी अप्रसिद्धिमें मानी जाती है । गमन की अनुपपत्ति नहीं है कि जिससे लक्षणा मानी जावे । परब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है तथापि यह नियम है कि ब्रह्मज्ञानी अमुक देशविशेषमें जाकर ही मुक्त होता है । यहाँ ब्रह्मलोक शब्दमें षष्ठी तत्पुरुष समास नहीं है किन्तु निषादस्थपतिन्याय से कर्मधारय है अर्थात् ब्रह्मलोक शब्दका यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्माका लोक किन्तु ब्रह्मरूप लोक यह अर्थ है । सत्यसंकल्पवाले परब्रह्मके स्वेच्छासे बनाये हुए ऐसे अप्राकृत दिव्य लोक श्रुति स्मृति और इतिहासादिमें प्रसिद्ध हैं जहाँ जाकर जीव मुक्त होजाता है । एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । अर्थ—यह जीव इस शरीर से निकल कर देश विशेषमें विराजमान भगवान्को पाकर स्वरूपसे युक्त होजाता है अर्थात् स्वरूपको प्राप्त करता है । यह श्रुति भी यही बताती है कि सुषुम्णा नाड़ीसे निकले हुये जीवको अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है । प्रजापतेः सभां वेश्म

प्रपद्ये । इस श्रुतिसे अर्चिरादि मार्गसे गये हुये जीवको कार्य ब्रह्ममें जो अनुसन्धान होता है उसे भी परब्रह्ममें ही जानना चाहिये, हिरण्यगर्भमें नहीं क्योंकि उसी वाक्यके यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम् । इस विशेषमें अनुसन्धाताको परमात्मभावका ही अनुसन्धान होना कहा गया है। अतः अर्चिरादि मार्ग उपासकों को परब्रह्मकी ही प्राप्ति कराते हैं यह जैमिनि मुनिका मत है। इस प्रकार जैमिनि मुनिके मतको दिखा कर भगवान् बादरायण व्यासजी अपना सिद्धान्त कहते हैं। अर्चिरादि प्रतीकोपासना का आलम्बन न करने वालोंको ब्रह्मप्राप्ति कराते हैं ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं। कार्यब्रह्मकी उपासना करने वालोंको अथवा परब्रह्मके उपासकोंको ही लेजाते हैं ऐसा नियम नहीं है। किन्तु जो परब्रह्मकी उपासना करते हैं अथवा प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप वाले प्रत्यगात्मा की ब्रह्मात्मक भावसे जो उपासना करते हैं उनको लेजाते हैं यह नियम है। प्रश्न—यह आप कैसे जानते हैं कि इन्हींको लेजाते हैं ? उत्तर—ऊपरके दोनों पक्षोंमें दोष है। कार्यब्रह्मोपासकों को ही लेजाते हैं इस पक्ष में अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते । इस श्रुतिका व्याकोप होता है, क्योंकि यह श्रुति परब्रह्मोपासकों के लिये है। परब्रह्मोपासकोंको ही लेजाते हैं इस पक्षमें तद्य इत्थं विदुः । इत्यादि श्रुतिका व्याकोप होता है क्योंकि पञ्चाग्निवित् का भी गमन देखा जाता है। इस प्रकारसे दोनों पक्षोंमें दोष होनेसे पूर्वोक्त ही नियम है। यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति तं यथा यथोपासते । अर्थ—पुरुष क्रतुमय है अर्थात् उपासनाप्रधान है । इस लोकमें जैसी या जिसकी

उपासना करता है यहाँसे मरकर वैसा ही होता है। अतः उपा-
सकको ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये, इत्यादि श्रुतियों से जो
जिसका उपासक है उसको ही वह पाता है। यावन्नाम्नो गतं
तत्रास्य यथा कामचारो भवति। अर्थ—जो नामब्रह्म की उपा-
सना करता है वह जितने देशमें उस नामकी प्रवृत्ति है उतने
देशमें यथेष्ट संचरण कर सकता है। यह श्रुति यह बताती है
कि नामादि प्राणपर्यन्त प्रतीकोपासना करने वालों को विशेष
विशेष फल मिलता है। अतः जो परब्रह्मोपासक है अथवा जो
प्रकृतिवियुक्त प्रत्यगात्माका ब्रह्मात्मकत्वेन उपासक है उन्हीं को
अर्चिरादि लेजाते हैं। इस प्रकारसे ब्रह्मज्ञानीका पुनरावृत्ति रहित
गमन तथा उस गमनसे ब्रह्मप्राप्ति इन दो वस्तुओंको कह कर
अब मुक्त जीवोंके ऐश्वर्यका निर्णय करते हैं। संशय—एवमे-
वैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। इस श्रुति पर संशय यह होता है
कि जैसे कर्मोंके द्वारा देवादि रूपकी सिद्धि होती है वैसे ही ब्रह्म-
विद्याके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त हुए आत्माओंको किसी रूपके साथ
सम्बन्ध होजाता है यह श्रुतिका आशय है अथवा उनके स्वाभा-
विक स्वरूपका आविर्भाव होजाता है यही आशय है। पूर्वपक्ष-
ऐसा देखा जाता है कि किसी भी साधनसे कोई न कोई कार्य
निष्पन्न होता है। अतः जैसे कर्मरूप साधन से देवादि रूपोंकी
प्राप्ति होती है वैसे ही विद्यारूप साधनसे साध्यरूपके साथ
आत्माओंका सम्बन्ध होजाता है। सिद्धान्त—ब्रह्म की सम्पत्ति
के पश्चात् स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होजाता है। कर्म-
फलका जो दृष्टान्त दिया वह यहाँ असंगत है क्योंकि कर्मफल

अनित्य है उसका फल अन्य होसकता है। यहाँ तो उपासना-रूप विद्यासे अविद्याके कारण जो आत्मस्वरूप तिरोहित हो गया था उसके तिरोधानकी निवृत्ति होनेसे स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होता है। अतः यह प्रत्यगात्मा इस शरीर से निकल कर परज्योतिको प्राप्त करके अविद्याके आवरणसे रहित स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भावरूप जो विद्याफल उसे प्राप्त करता है। कोई अपूर्व आकारकी उत्पत्तिरूप फल नहीं पाता है। प्रश्न—यह आप कैसे जानते हैं कि स्वरूपाविर्भाव ही होता है, नूतनाकारकी उत्पत्ति नहीं होती? उत्तर—'स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते' इस श्रुतिमें स्वेन रूपेण अर्थात् अपने रूपसे प्रकट होता है ऐसा कहा है। स्वरूपसे प्रकट होता है इस कथनसे आगन्तुक रूपके परिग्रहकी व्यावृत्ति होती है अतः नूतनाकार उत्पन्न नहीं होता। प्रश्न—जिसका जो स्वरूप होता है वह तो उसे नित्य प्राप्त हो रहता है तब पूर्वावस्थासे ब्रह्मसम्पत्त्यवस्थामें क्या विशेष है कि जिससे यह श्रुति सार्थक होवे। उत्तर—'स्वेन रूपेणाभिनि-ष्पद्यते' इस श्रुतिसे यह कहा गया है कि ब्रह्मसम्पत्त्यवस्थामें जीव कर्मसम्बन्ध और कर्मसम्बन्धसे प्राप्त होनेवाले देहादिरूप समस्त अनर्थोंसे मुक्त हो स्वाभाविकरूपसे अवस्थित होजाता है। प्रथम तो जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंसे जीव कलु-षित रहता है तथा संसारी रहता है और ब्रह्मसम्पत्त्यवस्था में इन सबसे मुक्त ही रहता है यही विशेष है। कर्मोंको ही अविद्या कहते हैं, उसी अविद्यासे आत्मस्वरूप तिरोहित रहता है। विद्या से वह तिरोधान नष्ट होजाता है, तब जीवके स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव होता है। यही 'स्वेन रूपणाभिनिष्पद्यते' इस वाक्यका विषय है। प्रश्न—यह सब आप कैसे जानते हैं? उत्तर-प्रतिज्ञानात्-अर्थात् य आत्माऽपहतपाप्मा विजरः। यहाँसे प्रकरण

का आरम्भ करके सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः । इस श्रुति से यह कहा कि अविद्याके सम्बन्धसे होने वाला जरा मृत्यु शोक आदि सकल दोषोंसे विमुक्त आत्मा ही अन्वेष्टव्य और वही जिज्ञासा करने योग्य भी है। इसके पश्चात् यह कहा कि जो उस आत्माको जान लेता है स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् । वह सब लोकों और सब कामोंको प्राप्त करता है। इस प्रतिज्ञासे यही जाना जाता है कि कर्मफलजन्य देहादि अनर्थोंसे विमुक्त अपने स्वरूपको वह पाता है। अतः यहाँ पर परज्योतिकी प्राप्ति करके स्वरूपसे निष्पन्न होता है इस कथनका यही अर्थ है कि उसकी कर्मसम्बन्धका सततराहित्यरूप मुक्ति होजाती है। वही जीवात्मा का स्वाभाविक स्वरूपाविर्भाव है। प्रश्न—जिसकी स्वरूपसे अभिनिष्पत्ति कही गई है उसकी सुषुप्ति दशाकी अपेक्षा इस दशामें क्या वैलक्षण्य है? उत्तर—अपहतपाप्मत्वादि गुणों वाला होना ही इस आत्माका स्वरूप है क्योंकि 'य आत्मापहत-पाप्मा' इस प्रकरणसे ऐसा ही जाना जाता है। आशय यह है कि कर्मसंज्ञक अविद्यासे जब आत्माका स्वरूप आच्छन्न रहता है तब वह संसारी कहा जाता है। जब ब्रह्मविद्या द्वारा इस शरीर से उठकर अर्चिरादि द्वारा परज्योतिको उपसम्पन्न होकर अविद्या रूप आवरणकी निवृत्ति होनेसे स्वरूपाविर्भावको पाता है तब वही मुक्त कहा जाता है। इस आत्माके अपहतपाप्मत्वसे लेकर सत्य-संकल्पत्व पर्यन्त जो ज्ञानानन्दादि गुण हैं वे संसार दशामें तिरो-हित थे, वे ही गुण विद्यासे कर्मबन्धनके उच्छिन्न होजाने पर जब वह आत्मा परब्रह्म सम्पन्न होजाता है तो आविर्भूत होजाते हैं। ऐसा ही विष्णुधर्मोत्तरमें भी कहा है। यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः । दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः

क्रियते तथा ॥ १ ॥ यथोदपानकरणात् क्रियते न जलाम्बरम् । सदैव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः ॥ २ ॥ यथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥ ३ ॥ अर्थ—मणिके मलको धो डालनसे जो प्रकाश उत्पन्न होता है वह जैसे बनाया नहीं जाता है, वैसे ही आत्माके दोषोंके नाश होजाने पर अपने आप ज्ञान प्रकट होजाता है बनाया नहीं जाता। कूप आदि खोदनेसे जलाकाश निकल आता है, वह जैसे बनाया नहीं जाता वैसे ही आत्माका ज्ञान बनाया नहीं जाता है। सत्को ही प्रकट किया जाता है, असत्से तो कोई सत् हो नहीं सकता। वैसे ही हेय गुणोंके नाश होजाने पर आत्माके ज्ञानादि गुण प्रकट होजाते हैं उत्पन्न नहीं होते। अतः यह युक्त ही कहा गया है कि ब्रह्मसम्पत्ति के पश्चात् स्वरूपाविर्भाव होता है। संशय—परज्योति को प्राप्त करके विनष्टकर्मबन्धन वाला यह प्रत्यगात्मा अपनेसे ब्रह्मको विभक्तरूप से अनुभव करता है अथवा अविभक्तरूपसे ? पूर्वपक्ष—पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तेनामृतत्वमेति । इस श्रुतिके अनुसार अपनेसे पृथक् मानकर जीव परमात्माकी सेवा करता है। जीवकी स्थिति परमात्मासे पृथक् ही है, अतः ब्रह्मसे विभक्तरूप से अपनेको अनुभव करता है। सिद्धान्त—मुक्तात्मा अपने को ब्रह्मसे अविभक्तरूपमें अनुभव करता है क्योंकि परज्योतिको उपसंपन्न होकर उसका अविद्यारूप आवरण नष्ट होजाता है और तब यथातथरूपसे वह अपने स्वरूपको जान लेता है और आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा । अयमात्मा ब्रह्म । य आत्मनि तिष्ठन् । अर्थ—आकाशके

समान सर्वव्यापक है और नित्य है। वह सबके अन्तरमें प्रविष्ट है, सब प्राणियोंका वही शासक है और वही सर्वात्मा है। जीव के भीतर रहा हुआ ही आत्मा ब्रह्म है। इत्यादि श्रुतियोंसे अनेकों बार उसका स्वरूप ब्रह्मात्मक तथा ब्रह्मशरीर होनेके कारण ब्रह्म प्रकारभूत प्रतिपादन किया गया है। अतः वह अविभक्तरूपसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अनुभव करता है। पूर्वमें यह कहा गया कि परज्योतिको प्राप्त करके अविद्यारूप आवरणकी निवृत्ति हो जाने पर आत्माका स्वरूपाविर्भाव होता है। जिस स्वरूपसे आवि-र्भूत होकर आत्मा रहता है उस स्वरूपका मतभेदसे विचार करते हैं। संशय—क्या यह जीव अपहतपाप्मत्वादि रूपसे आविर्भूत होकर रहता है अथवा चैतन्यरूपसे रहता है अथवा विरोध न होने के कारण दोनों स्वरूपों से रहता है। जैमिनि आचार्य-अपहतपाप्मत्वादि जो ब्रह्मका स्वरूप है उसी स्वरूपसे आविर्भूत होकर आत्मा रहता है क्योंकि दहरवाक्यमें जो अपहतपाप्मत्वादि ब्राह्मगुण कहे गये हैं वही प्रजापतिवाक्यमें भी कहे गये हैं। परन्तु वहाँ उन्हें आत्माके गुण बताये हैं, अतः प्रत्यगात्मा का स्वरूपसे और गुण से अपहतपाप्मत्वादिक ही स्वरूप सिद्ध होता है। विज्ञानमात्रस्वरूपता अथवा उभय-स्वरूपता सिद्ध नहीं होती। औडुलोमि आचार्य—चित् में तन्मात्ररूप से अर्थात् चैतन्यमात्ररूप से यह आत्मा रहता है अर्थात् चैतन्यमात्ररूप से आविर्भूत होता है। क्योंकि एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव। अर्थ—जैसे लवणका खण्ड भीतर और बाहरसे सब एक ही अन्य अवयवों से रहित है वैसे ही यह आत्मा भी अन्तरावयव और बाह्यावयव से शून्य है पूर्ण है वह नित्य है प्रज्ञानघन है। इत्यादि अनेक

श्रुतियोंसे प्रत्यगात्माको तदात्मक—चिदात्मक प्रज्ञानात्मक चैतन्यात्मकस्वरूप कहा गया है। सिद्धान्त—यदि आत्माको विज्ञानस्वरूपमात्र अंगीकार करें तो भी प्रकरणप्राप्त जो अपहतपाप्मत्वादि गुण हैं उनका विरोध नहीं होता ऐसा बादरायण भगवान् मानते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों स्वरूप सिद्ध होसकते हैं। प्रश्न—यह आप कैसे जानते हैं? उत्तर—अपहतपाप्मा आदि जो उपनिषद्‌के प्रमाण वचन हैं उनसे यही जाना जाता है कि अपहतपाप्मत्वादि गुण भी रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि चेतनके स्वरूपके विरोधी जो पाप्मत्वादि दुष्ट गुण हैं उनका निषेध होजानेसे चेतनके स्वरूपमें प्रकाशक जो अपहतपाप्मत्वादि गुण हैं उनका अविरोध है अर्थात् विरोध न होनेसे ये गुण रह सकते हैं। जब यह अपहतपाप्मत्वादि गुणस्वरूप धर्म हैं तो इन्हें अविद्यापरिकल्पित नहीं कह सकते, दोनों ही वास्तविक गुण हैं, अतः विनिगमनाके अभावसे अर्थात् इनको रखना अथवा उनको रखना इसका कोई व्यवस्थापक न होनेसे उभयगुणवत्ता रहती है। जैसे रसनेन्द्रियसे सैन्धवघनमें रसमयत्वका अनुभव होता है और चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उसके काठिन्यादिका अनुभव होता है। यहाँ रसमयत्व और काठिन्यादिका परस्पर विरोध नहीं है वैसे ही 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इस वाक्यसे आत्माका स्वरूप विज्ञानघन जाना जाता है और 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि वाक्यसे अपहतपाप्मत्वादि उसका स्वरूप जाना जाता है। इन धर्मोंका परस्पर विरोध नहीं है अतः उभयस्वरूप रहते हैं। इस प्रकारसे ब्रह्मसम्पत्तिके पश्चात् मुक्तात्माका अपहतपाप्मत्वसे लेकर सत्यसंकल्पत्व पर्यन्त गुण वाला रूप आविर्भाव होता है। यह वस्तु यहाँ तक कहा गया, अब दूसरा विचार किया जाता है। छान्दोग्यमें स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा

यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा। अर्थ—उत्तम पुरुष भगवान् ही उपसम्पादन करनेके योग्य हैं। भगवान्का उपसम्पादन करने वाला वह जीव भगवान्में ही रहकर खाता हुआ, खेलता हुआ, स्त्रियोंके साथ रमण करता हुआ, रथादिसे आनन्द करता हुआ भगवान् का ही अनुभव करता है। इस श्रुतिसे कहा गया है कि वह मुक्तात्मा संकल्पजन्य विषयोंका अनुभव करता है। संशय—यहाँ संशय यह है कि जिस प्रकारसे परमात्माके संकल्पमात्रसे सब पदार्थ उत्पन्न होजाते हैं वैसे ही मुक्तात्माके संकल्पमात्रसे स्त्री आदिकी उपस्थिति होती है अथवा इसके लिये कोई अन्य प्रयत्न करना पड़ता है। पूर्वपक्ष—लोकमें देखा जाता है कि कार्यमात्र देवदत्त यज्ञदत्तादि पुरुषोंके प्रयत्नसे उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ भी स्त्री आदिकी उपस्थितिके विषयमें भी मुक्तात्माके अन्य प्रयत्नसे ही साध्यता है। सिद्धान्त—मुक्तात्मा के संकल्पमात्रसे सर्वकामनाओंकी प्राप्ति होती है। क्योंकि स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। इस श्रुतिमें संकल्पसे ही पिता आदिकी उपस्थिति सुनी जाती है। 'संकल्पादेव' में जो एव है वह यह बताता है कि संकल्पके अतिरिक्त अन्य साधन—प्रयत्न की अपेक्षा उसे नहीं होती। अतः निष्कर्ष यही हुआ कि संकल्पसे ही उसे सर्वकामावाप्ति होती है। सत्यसंकल्पसे ही अनन्याधिपति बन जाता है। अर्थात् उसके संकल्पको रोकने वाला न कोई पुरुष होता है और न कोई कर्म है। प्रश्न—तब तो ब्रह्म भी उसका अधिपति नहीं हुआ? उत्तर—नहीं यह वार्ता नहीं है। अरे ब्रह्मकी उपासनासे ही तो उसे सत्यसंकल्पत्वादिकी सिद्धि हुई है और वही अधिपति नहीं होगा। उसके आधिपत्यका निषेध नहीं है। उसके सत्यसंकल्पका कोई

निवारक नहीं है अतः श्रुति में कहा है कि स स्वराट् भवति। अर्थात् वह स्वतन्त्र राजा होजाता है। अब सिद्ध संकल्प वाले मुक्तात्माके शरीर और इन्द्रियादिके विषयमें विचार करते हैं कि मुक्तात्माके शरीर और इन्द्रिय होते हैं या नहीं। बादरि—बादरि आचार्य कहते हैं कि मुक्तात्माओं के शरीर और इन्द्रिय नहीं होते हैं। क्योंकि न वै स शरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। अर्थ—इस शरीरसहित वह आत्मा प्रिय और अप्रिय वस्तुओंसे पकड़ गया हुआ है। कर्मवशसे जिसका शरीर आरब्ध हुआ है ऐसे आत्माको प्रिय और अप्रिय बने ही रहते हैं उनका नाश नहीं है। वह जब अशरीर होजाता है अर्थात् मुक्त होजाता है तब उसे प्रियाप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं। इत्यादि श्रुतियोंमें मुक्तात्माके शरीरका अभाव कहा गया है। परन्तु मन इन्द्रिय तो रहता ही है क्योंकि मनके विना संकल्प ही नहीं होसकता। अतः मनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंका अभाव जानना चाहिये। ऐसा मानने से ही मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके। यह श्रुति भी संगत होती है। जैमिनि—जैमिनि मुक्तात्माके शरीर और इन्द्रियका होना मानते हैं क्योंकि स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा। इस श्रुतिमें मुक्तात्माको अनेक प्रकारका होना कहा है। यदि शरीर न हो तो वह द्विधा त्रिधा आदि कैसे होसकता है। प्रश्न—यदि आप शरीर मानते हैं तो अशरीरं सन्तम्। इस श्रुतिका क्या समाधान करेंगे? उत्तर—यह श्रुति तो यह कहती है कि कर्मादिके निमित्तसे मुक्तका शरीर नहीं होता है, अर्थात् इस श्रुतिमें शरीरका निषेध नहीं है किन्तु

कर्मादि निमित्तका निषेध है। इस प्रकारसे बादरि और जैमिनि का मत दिखाकर अब भगवान् बादरायण अपना सिद्धान्त प्रकट करते हैं। सिद्धान्त—संकल्पसे ही मुक्तजीव शरीरेन्द्रिय सहित भी रहता है और विना शरीर और इन्द्रियके भी रहता है। जैसे एक ही द्वादशाह उपैति क्रियाके सम्बन्धसे सत्र कहा जाता है और यजति क्रियाके सम्बधसे अहीन कहा जाता है। अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ 'आसीरन् उपेयुः' क्रिया हो वहाँ द्वादशाहको सत्र समझना चाहिये जहाँ यजधातु का प्रयोग हो वहाँ अहीन जानना चाहिये। अथवा कर्ता बहुत हों तब सत्र कहा जाता है और कर्ता एक हो तो अहीन कहा जाता है। ऐसे हो संकल्प के वैचित्र्य से मुक्तात्मा दोनों प्रकार से रहता है। प्रश्न—जिस पक्षमें शरीरेन्द्रियका अभाव रहता है उस पक्षमें उसके भोगकी सिद्धि कैसे होगी ? उत्तर-जब स्वसंकल्पसे बनाये गये हुये शरीर और इंद्रियादि नहीं रहते तब सांध्य-स्वप्नके समान भोगकी सिद्धि होती है। अर्थात् जैसे ईश्वरके बनाये हुये उपकरणसे स्वप्नके पदार्थोंका आत्मा भोग करता है वैसे ही शरीरेन्द्रियके न होने पर भी मुक्तात्मा परमात्माके दिये हुये पितृलोकादिकोंके द्वारा लीलारसका अनुभव करता है। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथाऽनन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशमान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशमान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता। जैसे स्वप्न में प्रत्यक्ष कोई वस्तु अविद्यमान ही रहता है परन्तु सब वस्तुका अनुभव होता है इसी तरहसे मुक्त शरीरेन्द्रियरहित होने पर भी भगवत् प्रदत्त ही पितृलोकादिके भोगोंका अनुभव करता है। जब स्व

संकल्पसे शरीरेन्द्रिय प्राप्त करता है, पितृलोकादि विषय प्राप्त करता है तब जैसे जाग्रत् अवस्थाका जाव कारण कलेवरादिसे भोगोंको भोगता है वैसे ही मुक्त जीव स्वप्नभोगसे विलक्षण लीला-रसका अनुभव करता है। प्रश्न—आत्मा तो अणु है। वह स एकधा भवति त्रिधा भवति। इस श्रुतिके अनुसार अनेक शरीरोंमें तो रह नहीं सकता तो विना आत्माके शरीरसे मुक्त पुरुष भोग कैसे कर सकता है? उत्तर—जिस प्रकारसे एक ही प्रदेशमें रखे हुये एक ही प्रदीपका आवेश उस प्रदेशसे अन्य प्रदेशमें भी स्वप्रभाके द्वारा होता है तथा जैसे एक शरीरके हृदयादि एक देशमें रहे हुए आत्माका चैतन्य व्याप्ति द्वारा सम्पूर्ण शरीरमें आत्माभिमान होता है और समान ही व्यवहार भी होता है। कहनेका आशय यह है कि जितने बद्ध जीव हैं उनका ज्ञान अनादिकालके सञ्चित कर्मोंसे सङ्कुचित होगया है। अतः चैतन्यके द्वारा देहान्तरमें व्याप्ति नहीं होतो है परन्तु अपने देहमें तो उनको व्याप्ति होती ही है। मुक्ता-त्माओंका बन्धन तो भगवान्की उपासनासे कट गया है और भगवत्कृपासे उनका ज्ञान भी संकुचित नहीं है अतः जैसे अपने देहमें उनकी व्याप्ति होती है वैसे ही देहान्तरमें भी व्याप्ति होती है। इससे सब व्यवहार उपपन्न होता है। बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। अर्थ—केशके अग्रभागका सौ भाग करो। पुनः उस शतांशका सौ भाग करो। उतना ही परिमाण वाला जीवको जानना चाहिये, वह मोक्षके योग्य होता है। इस श्रुतिमें भी यही प्रतीत होता है। तथा च स्वसंकल्पसे ही मुक्तात्मा को सब कुछ सिद्ध होजाता है। प्रश्न—प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन

वेद नान्तरम् । अर्थ—जैसे अत्यन्त प्रिय स्त्रीके साथ लिपटे हुए पुरुषको न बाहर कुछ सूझता है और न भीतर ही कुछ सूझता है, वैसे ही यह पुरुष परमात्माका साक्षात्कार होने पर बाहर और भीतरके किन्हीं पदार्थोंको भी नहीं जानता है। आप्तकाम आत्मकाम अकाम और शोकरहित ही उस आत्माका स्वरूप है। यह श्रुति तो यह कहती है कि मुक्तको न बाह्य ज्ञान होता है और न आन्तरज्ञान होता है तब आप उसकी सर्वज्ञता कैसे कहते हैं। उत्तर—इस श्रुतिमें जो ज्ञानका अभाव कहा गया है वह सुषुप्ति और मृत्यु इन दोनोंमेंसे किसी एककी अपेक्षासे कहा गया है, मुक्तिविषयक नहीं। स्वाप्यय अर्थात् सुषुप्तिमें ज्ञानका न होना दूसरी श्रुतिमें भी कहा गया है। यथा—नाहं खल्वयं भगव एवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति। अर्थ—हे भगवन् सुषुप्तिकालमें पुरुष आत्माको नहीं जानता है कि मैं अमुक हूँ। इन भूतोंको भी नहीं जानता है, क्योंकि उस समय मरा हुआ जैसा ही रहता है। मैं उस अवस्थामें भोग्यको नहीं जानता हूँ। इस श्रुतिमें सम्पत्ति शब्दका अर्थ मरण है। क्योंकि 'वाङ् मनसि सम्पद्यते' इस श्रुतिमें भी सम्पद्यते—सम्पूर्वक पद्धातुका अर्थ मरण ही है। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। इस श्रुतिसे मरणमें भी ज्ञानका अभाव कहा गया है। तथा मुक्त पुरुष सर्वज्ञ होजाता है यह तो श्रुतिमें ही कहा गया है। यथा—स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके। इत्यादि। अतः संकल्पसे ही मुक्तके शरीरेन्द्रिय रहते भी हैं और नहीं भी रहते हैं तथा संकल्पसे ही उसको

सर्वज्ञता भी रहती है। मुक्तको संकल्पमात्रसे सर्वकामकी प्राप्ति होती है, वह अनन्याधिपति होजाता है, यह वार्ता पूर्वमें कही गई है। जब संकल्पमात्रसे मुक्तकी सर्वकामसिद्धि होती है तो अब यह विचार है कि संशय—क्या भगवान्‌के समान ही मुक्त पुरुष संकल्पमात्रसे सर्वेश्वरता को भी पा सकता है अथवा केवल सर्वकामप्राप्तिरूप ऐश्वर्यको ही पाता है। पूर्वपक्ष—सर्वेश्वरताको भी वह प्राप्त करता है क्योंकि मुक्तिमें वह अनन्याधिपति होजाता है। अनन्याधिपति होनेसे यह वार्ता सिद्ध होती है कि वह सर्वाधिपति है। जब वह सर्वाधिपति सिद्ध हुआ तो परमेश्वरके समान हो उसके सर्वनियन्तृत्वकी भी सिद्धि होजाती है। निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। इस श्रुतिमें यह कहा गया है कि मुक्त पुरुष परपुरुषके समान होजाता है। तब भगवान्‌के समान ही मुक्तपुरुषको भी जगत्‌की सृष्टि आदिका कर्तृत्व सम्भव है। सिद्धान्त–जगत्‌की उत्पत्ति स्थिति और प्रलयका करना समस्त चेतन और अचेतनके स्वरूप स्थिति प्रवृत्ति और भेद आदिको नियममें रखना आदि जो जगत्‌के व्यापार हैं उन्हें छोड़ कर अविद्याके आवरणसे छूट कर परब्रह्मका अनुभव करना ही मुक्त का ऐश्वर्य है। अर्थात् जगत्‌का व्यापार इसके ऐश्वर्यमें नहीं है। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा। इस श्रुतिमें जो संकल्पमात्रसे मुक्तात्माको सर्वकामकी प्राप्ति कही है उसका यही तात्पर्य है, जगदीश्वरता प्राप्त करनेमें तात्पर्य नहीं है। वह जगदीश्वरता तो परमपुरुष भगवान् श्रीरामजीका असाधारण धर्म है, वह किसीको नहीं मिल सकता है। प्रश्न—यह आप कैसे जानते हैं? उत्तर—प्रकरणसे। परमात्माको ही अभिप्रेत करके। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि-

संविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। यह श्रुति कही गई है। मुक्तात्मा के लिये यह श्रुति नहीं है, ऐसे ही अन्य प्रकरणों में भी। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। इत्यादि स्थलोंमें भी ब्रह्मका ही प्रकरण जानना चाहिये, मुक्तात्माका नहीं मुक्त इस प्रकरणमें संनिहित भी नहीं कि जिससे उसका ग्रहण किया जावे और उस का भी जगद्व्यापार मान लिया जावे। प्रश्न—स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। इत्यादि श्रुतिमें प्रत्यक्ष ही स्वातन्त्र्यका उपदेश है अतः मुक्तको निरङ्कुश ऐश्वर्य होना ही चाहिये। उत्तर—जो सर्वलोक में कामचार कहा गया है वह केवल आधिकारिकमण्डलस्थ के लिये है। अर्थात् तत् तत् लोक में ब्रह्म द्वारा अधिकार में नियुक्त जो हिरण्य-गर्भादि हैं उन के लोक में स्थित भोगों के प्रति कामचार कहा गया है। उसका तात्पर्य यह है कि हिरण्यगर्भादिके जो वैका-रिक लोक हैं वह भी ब्रह्मकी ही विभूति हैं। उनमें बन्धनरहित मुक्तात्मा स्वसंकल्पानुसार विहार करता है। उस वचनसे यह सिद्ध नहीं होता कि जगद्व्यापार भी मुक्तको प्राप्त होजाता है। प्रश्न—जिस प्रकारसे संसारी आत्मा विकारान्तर्वर्ती भोगोंका भोग करता है वैसे ही यदि मुक्तात्मा भी विकारान्तर्वर्ती ही भोगोंका भोग करता है तो जैसे बद्धात्माका भोग नश्वर है वैसे ही मुक्तात्माका भोग भी नश्वर होजावेगा। उत्तर—वह आत्मा केवल वैकारिक लोकोंमें रहने वाले भोगोंको ही नहीं भोगता है प्रत्युत जन्ममरणादि विकारोंसे रहित अनन्त कल्याणगुणसागर अनन्तविभूतियुक्त ब्रह्मका भी अनुभव करता है। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा-

नन्दी भवति । अर्थ—यह आत्मा चक्षुरादि इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेके अयोग्य है, प्राकृत शरीरसे रहित है, अवर्णनीय—फुन्सी फोड़ेसे रहित है, आधारकी अपेक्षासे रहित है। इस भगवान्में अभयसाधनीभूत निरन्तर भगवत्स्मरणको प्राप्त करता है तब वह अभयको पाता है। वह सुकृत ब्रह्म ही आनन्द है उसी आनंद ब्रह्मको पाकर यह आत्मा आनन्दी होता है। को ह्यन्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति। अर्थ—यदि यह आकाश आनन्द परमानन्दस्वरूप श्रीहरि न होता तो दूसरा कौन था कि जो सांसारिक और पारलौकिक सुख देता। यही आनन्दित कराता है। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । अर्थ—जब यह उपासक परमात्माके ध्यानमें अल्प भी अन्तरविच्छेद करता है तब उसको भय होता है। कौन भय होता है? भगवान्की भक्तिको भूल कर अन्यमें स्पृहा करना यही भय है। इत्यादि श्रुतियाँ अनन्त कल्याण गुणयुक्त सर्वात्मक परमात्मामें ही मुक्तात्माके अनुभव करनेकी स्थितिका वर्णन करती हैं। तात्पर्य यह है कि यह चित् और अचित् जितना भी जगत् है सब परमात्माकी विभूति है। अतः सर्वाधार उसी परमपुरुष में समस्त जगत् रहता है। सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । इत्यादि श्रुतियाँ पूर्वोक्त कथन में प्रमाण हैं। अतः ब्रह्मनिष्ठ होनेके कारण मुक्तात्मा विभूतियोंके सहित ब्रह्मका अनुभव करता हुआ आधिकारिक लोकोंके भोगोंका भी अनुभव करता है। इसी वस्तुको स स्वराट् भवति इत्यादि श्रुति कहती है न कि सृष्टि रचनादि कर्तृत्वको। स विश्वकृद्

विश्वविदात्मयोनिः । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय । एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः । य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय । भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः । अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । इत्यादि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ यही बताती हैं कि जगत्‌की सृष्टि स्थिति प्रलय नियमन आदि समस्त व्यापार परमात्माके ही हैं । अतः जगद्व्यापारको छोड़ कर मुक्तात्माका ऐश्वर्य है । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता । इस श्रुतिमें मुक्तात्माको ब्रह्मके साथ समस्त भोगमात्रकी समता कही गई है, जगद्व्यापारकी नहीं । इस समतारूप लिंगसे जगद्व्यापारको छोड़ कर ही सत्यसंकल्पतासे सब लोकोंमें मुक्तात्माका कामचार है । स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते । इत्यादि श्रुतियोंसे यह जाना जाता है कि ध्यान उपासन वेदन आदि अनेक नामों वाली भगवच्चिंतनस्वरूपा अनन्य भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् अर्चिरादि मार्ग द्वारा जिसको ब्रह्मलोक प्राप्त कराते हैं उसकी पुनः आवृत्ति—संसारमें पुनर्जन्म नहीं होता। अनन्यभक्तकी अनावृत्तिको गीताचार्य श्रीप्रभुजीने भी कहा है। जैसे कि मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते । इत्यादि । जिसने अच्छे प्रकारसे भगवान् के श्रीचरणकमलोंकी सेवा भक्ति की है अत एव जिसके निखिल मनोरथ सिद्ध होचुके हैं, जो सर्वदा नित्य परमानन्दका अनुभव करता है ऐसे मुक्तात्माको कभी भी जन्म मरण और जरा आदि दुःखोंसे परिपूर्ण और सान्त सुख वाले इस जगत्में पुनर्जन्मके क्लेशका लेश भी नहीं होता है । सब पर वात्सल्यभाव रखने वाले, सौजन्यके भण्डार, सौशील्यके आकर और कारुण्य के समुद्र, भक्तों पर सर्वदा कृपा करने वाले परमपुरुष भगवान् श्रीरामभद्रजी भी अपने अनन्य ज्ञानी भक्तको अपने लोकमें ले आकर कभी भी नहीं लौटाते हैं । क्योंकि स्वाश्रित जन और अनन्य भक्तका उद्देश करके उस परम कारुणिक परमपुरुष भगवान्की यह प्रतिज्ञा है कि अप्यहं जीवितं जह्याम् । सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम । इत्यादि । तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ अर्थ—श्रीराम प्रभु कहते हैं कि सत्य मुझे सदा इष्ट है । मैं अपने प्राणोंको

अथवा हे जनकनन्दनि तुमको और लक्ष्मणको तो किसी प्रकारसे छोड़ भी सकता हूँ परन्तु की हुई प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकता हूँ ॥ १ ॥ एक ही वार जो मेरी शरणागति स्वीकार करता है, मैं आपका हूँ, इस प्रकारसे बोल कर जो मुझसे अभय चाहता है ऐसे जनको तथा अन्य किसी भी प्राणीको मैं अभय देता हूँ यह मेरा सनातन व्रत—प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥ मेरे सब भक्तोंमें से नित्य-युक्त एकान्ती ज्ञानी ही विशिष्ट है। मैं ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय हूँ तथा ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ ३ ॥ सभी भक्त श्रेष्ठ हैं परंतु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह युक्तात्मा मुझे ही परमगति मान कर मेरे ही आश्रित है ॥ ४ ॥ जो अनन्य भावसे मेरा ध्यान करते हैं, मेरी उपासना करते हैं उन नित्य-युक्त भक्तोंको मैं योगक्षेम पहुँचाता हूँ ॥ ५ ॥ मृत्युरूप संसार-सागरसे मैं उनको विना विलम्बके निकाल लेता हूँ जो मुझमें ही चित्त लगाये रहते हैं ॥ ६ ॥ मुझमें ही मन रख, मुझमें ही बुद्धि रख, तब इसमें संदेह नहीं कि तू मुझमें ही निवास करेगा। इस गीतापुरुषवचनसे भी यही सिद्ध होता है कि परमपुरुषको प्राप्त हुए मुक्तात्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। इति विरामः।

ब्रह्मशब्द-विचार

प्रज्ञानं ब्रह्म। सो इस वाक्यमें ब्रह्मका स्वरूप निरूपण किया है कि प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् सर्वोत्कृष्टस्वरूपम्। जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्तज्ञान हो वह प्रज्ञान कहावे अर्थात प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषणसे ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी भी अविद्यांधकाररूप अज्ञानके गन्धमात्रका भी संश्लेष नहीं होता न हुआ है और न होगा। ब्रह्म जो सबसे अर्थात् जातिवृद्ध

वयोवृद्ध शेवधिवृद्ध और ज्ञानवृद्ध अर्थात् इन सबसे अधिक बड़ा हो और सब जगत्का बढ़ाने वाला हो, स्वप्रपन्नको अनन्तानन्त मोक्षैकसुखप्रद हो, एवंभूत गुण हो जिसमें वह ब्रह्म कहावे यहाँ पर यह शंका होती है कि वह ब्रह्म क्या जातिवाचक है, वा गुण-वाचक है कि क्रियावाचक है अथवा द्रव्यवाचक है ? ये चार प्रश्न हैं। क्रमशः उत्तर—ब्रह्मको जाति कहें सो भी नहीं बन सकता है क्योंकि जाति अनेकमें होती है और यहाँ तो अनेक जाति है नहीं अत एव ब्रह्ममें जात्यभाव ही है। जातिका क्या लक्षण है ? नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं जातिः। अर्थात् नित्य होकर समवायसम्बन्धसे अनेकमें रहे उसे जाति कहते हैं। सम-वायसम्बन्ध उसे कहते हैं कि पृथक् न रह करके और अनेकमें रह कर नित्य होवे। दूसरा प्रश्नोत्तर—ब्रह्मशब्द गुणवाचक तो हो ही नहीं सकता यदि है तो गुणशब्द ब्रह्मका पर्यायत्व हो जायगा और गुणे शुक्लादयः पुंसि। इस सूत्रसे पुंलिङ्गत्व प्रसंग होने लगेगा क्योंकि ब्रह्मशब्द नित्य नपुंसक ही बोधक वाक्य है। दूसरा और यह दोष है कि ब्रह्म तो गुणवाचक होगया तो गुण जो होता है सो किसी अन्य द्रव्यका आश्रित होता है, तब तो और दूसरा ब्रह्म मानना पड़ेगा। क्योंकि गुण तो गुणीमें सदा ही विद्यमान रहते हैं। और दूसरा ब्रह्म मानना ही श्रुतिविरुद्ध कथा होने लगेगी। अतः ब्रह्म गुणवाचक भी नहीं होसकता। तृतीय प्रश्नोत्तर—ब्रह्मको क्रियावाचक मानने पर निष्क्रियप्रति-पादक श्रुतियोंमें व्याकोपका समन्वय होने लगेगा। क्योंकि ब्रह्म तो निरवयव और अपरिच्छिन्न है अतः उसमें क्रियात्वरूप धर्म नहीं होसकता है। किन्तु क्रियात्वधर्म तो अपरिछिन्नरहितमें ही होता है अतः न। चतुर्थ प्रश्नोत्तर—बृहत्त्व और बृंहणत्व शब्द

ये गुणविशिष्ट वाचक हैं कि साधारण द्रव्यवाचक हैं? ब्रह्मस्वरूप तो वेदान्तवेद्यत्व ही है अतः उसको साधारणद्रव्य भी नहीं कह सकते हो क्योंकि साधारणद्रव्य जो होता है सो तो अनित्य ही होता है प्रायः यह नियम है जैसे घटपटादिक। अतः बृहत्त्व और बृंहणत्वादि गुणविशिष्ट ही कहना पड़ेगा। बृहत्त्वका क्या अर्थ है? समाधान यह है कि सूक्ष्म चिदचिद् द्वारा जगद्रूप कार्य को वृद्धि करावे। बृंहणत्वका क्या अर्थ है? उत्तर—जो सबसे बड़ा हो अथवा सबसे पूजनीय हो वह। बृहिवृद्धौ बृहवर्हणे। इन दो धातुओंसे ब्रह्मशब्दकी सिद्धि होती है। धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ दोनों मिलकर ही पूर्ण अर्थका प्रकाशक होता है। इसी कारणसे यह सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् विशिष्ट ही होकर ब्रह्म कारण है और स्थूल चित् और स्थूल अचित् युक्त ही होकर ब्रह्म कार्य भी है। ऐसे ही अर्थ करनेसे ब्रह्म विशेष्य और विशेषणांशकी सिद्धि हुई, और ब्रह्ममें ही कार्य और कारणताकी भी सिद्धि होगई। यदि ऐसा कोई न मानेगा तो ब्रह्ममें ही विकार्यत्वापत्ति होने लगेगी और निर्विकार प्रतिपादक श्रुति से व्याकोप भी होने लगेगा। धात्वर्थ और प्रत्ययार्थके विचार मात्रसे ही स्वतः चिदचिद्विशेषण और विशेष्यांश ब्रह्म इन दोनों का बोध भी स्पष्ट होजाता है। पूर्वपक्ष—ब्रह्मके निर्धर्मक होनेसे प्रपञ्च मिथ्याभूत है क्योंकि दृश्य होनेसे। इस अनुमान प्रमाणसे प्रपञ्चकी मिथ्यात्व सिद्धि ही होती है। प्रपञ्च और ब्रह्मका जो शरीर शरीरीभाव होना और ब्रह्ममें बृहत्त्व बृंहणत्वादि धर्म होना ये सब आरोपित है अर्थात् वास्तविक नहीं है। समाधान—आपसे पूछता हूँ कि निर्विशेष ब्रह्ममें धर्म है कि नहीं? धर्म है तब तो सविशेष होगया, धर्म नहीं है तब तो जगत्की उत्पत्ति स्थिति

और संहार ये सब नहीं होसकता है। ब्रह्ममें आरोपित प्रपञ्च मिथ्यात्व है सो क्या मिथ्याभूत है कि नहीं। यदि यों कहो कि ब्रह्ममें आरोपित मिथ्यात्व मिथ्याभूत नहीं है तब तो प्रपञ्चको भी सत्यत्वका प्रसंग होजायगा। यदि यों कहो कि आरोपित मिथ्यात्व मिथ्याभूत है तब तो अद्वैतकी हानि होगी। क्योंकि कहा है कि मिथ्यात्वस्य तु मिथ्यात्वे मिथ्यात्वं बाधितं भवेत्। सत्यत्वस्य तु सत्यत्वे सत्यत्वं स्थापितं भवेत्। यह आप्तोक्ति वाक्य है कि मिथ्याका मिथ्यात्व होने पर मिथ्याका बाधित हो जाता है, और सत्यत्वका सत्यत्व होने पर सत्यत्वका स्थापित होता है। और भी श्रवण कीजिये कि ब्रह्मके आश्रित जो मिथ्यात्व प्रपञ्च सो क्या उसका अत्यन्ताभाव और ब्रह्मसे भिन्न है कि नहीं। भिन्न है तो क्या परमार्थिक है कि नहीं। परमार्थिक है तब तो अद्वैतभङ्ग प्रसंग होने लगेगा। भिन्न है तब तो निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपका अत्यन्ताभावस्वरूपके होने पर ब्रह्मका स्वातन्त्र्य होने से स्फुरण न होगा क्योंकि अत्यन्ताभाव ज्ञान होने पर प्रतियोगि-ज्ञानकी अपेक्षा होने लगती है। किञ्च निर्विशेष ब्रह्म और ब्रह्म शब्द इन दोनोंका अर्थमें भेद है कि नहीं ? भेद है तब तो अद्वैत हानि होगी, भेद नहीं है तब तो पौनरुक्ति दोष होने लगेगा। यह जो कहा गया है कि प्रपञ्च मिथ्या है सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि तत्र तत् मिथ्यात्वं हि प्रतिपन्नोपाधौ निषेधयति योगित्वम् मिथ्याशब्दका यह अर्थ है कि प्रतिपन्नो घट अर्थात् इस समयमें घट विद्यमान है। किञ्चित्कालावसान होने पर अर्थात् घट ध्वस्त होजाने पर कहा जाता है कि नास्त्यत्र घटः अर्थात् इस समयमें घट नहीं है। पुनः घटभाव होने पर कहा जाता है कि अस्ति घटः घट है, मिथ्याशब्दका यह अर्थ है। ऐसा मिथ्याशब्दका

अर्थ नहीं समझना चाहिये कि जैसे खपुष्प बन्ध्यापुत्र नृशृङ्ग शशकशृङ्ग यहो सबमें मिथ्याशब्दका प्रयोग होता है। जगत्-प्रपञ्च विषयमें तो अनित्यशब्दका ही प्रयोग होता है। ऐसे ही अर्थको श्रुति भी बताती है। सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। श्रीविष्णुदेवने जैसे पूर्व कल्पमें सूर्यचन्द्रादि बनाये थे वैसे ही वर्त्तमान कल्पमें भी किया है। श्रुति तो जगत्को अनित्य शब्दसे ही ईरित करती है, अत एव प्रपञ्चको मिथ्या कहना ही मिथ्या है। यदि यों कहो कि प्रपञ्च मिथ्यात्व ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न ही है सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मशब्द और मिथ्या शब्द ये दोनों ही पर्यायत्व प्रसंग होने लगेगा। यह जो पूर्वोक्त कहा गया कि ब्रह्म निर्विशेष है और प्रपञ्च मिथ्या है दृश्य होनेसे केवल अनुमानसे ही प्रपञ्चको मिथ्याको सिद्धि करना वह भी ठीक नहीं क्योंकि दृश्यत्वं हि प्रमाणजन्यप्रतीतिविषयत्वम्। अनुमान प्रमाणका यह लक्षण है कि अनुमान कब होता है कि जब पूर्वकालमें भूयोभूयः अनुभव किसी वस्तुओंमें कर चुका है, तब ही वह अन्यत्र अनुमान करने योग्य होता है। जैसे प्राक्तनमें रजत और सरीसृपका अच्छी तरहसे अनुभव कर चुका है, तब ही न वह शुक्तिमें तथा रज्जुमें अनुमान करने लगता है कि शुक्त्यामिदं रजतम् रज्ज्वां सर्पः। रजत और सरीसृपका जिसको ज्ञान ही नहीं है वह अनुमान भी नहीं कर सकता है। यदि केवल अनुमान प्रमाणसे ही ब्रह्मको सिद्धि करोगे तो ब्रह्ममें विशेष्यता क्या रही। विशेष्यता न होनेसे ब्रह्मका भी मिथ्यात्व प्रसंग होने लगेगा। यदि यों कहो कि प्रमाणजन्य प्रतीतिविषयत्व ब्रह्ममें नहीं होसकता है सो भी अयुक्त युक्ति है। क्योंकि जब प्रमाणसे जायमान जो ज्ञान तद्विषयक नहीं है, तब तो वेदान्तारम्भ वैयर्थ्य

प्रसंग होने लगेगा, अतः न। यदि हठात् अनुमानप्रमाणसे ही ब्रह्मका निर्विशेष होना तथा प्रपञ्चका मिथ्यात्व होना कहोगे तब वह ऐसा भी अनुमान होसकता है कि 'ब्रह्म अचेतनम् निराकारत्वात् आकाशवत्, जब तो यह भी प्रमाण होसकता है। पूर्वमें जो कहा गया कि शरीर शरीरीभाव आरोपित है सो भी कहना युक्तयुक्तिसे रहित ही है क्योंकि अन्यत्र ज्ञातानामेव हि अन्यत्र तत्सदृशे आरोपाः संभवन्ति। जैसे हस्ती ज्ञात वस्तु है परन्तु उसके सदृश दूसरा कोई नहीं है अतः उसका आरोप भी नहीं होसकता है, क्योंकि आपके मतमें प्रपञ्च मिथ्याभूत है। और अवस्तु है अर्थात् अज्ञात है, ब्रह्म वस्तु है, अवस्तुका वस्तुमें आरोप भी नहीं होसकता है। यदि यों कहो कि मिथ्यात्वेन ज्ञात है सो भी नहीं कहसकते हो क्योंकि ब्रह्मके सदृश दूसरा कोई भी नहीं है। यदि यों कहो कि अज्ञात वस्तुका भी आरोप होसकता है तब तो खर विषाणका भी आरोप प्रसंग होने लगेगा। तदर्थ ब्रह्मसे व्यतिरिक्त अधिष्ठान स्वीकार करनेमें अद्वैत की हानि होगी। अधिष्ठानको न स्वीकार करने पर आरोपानुपपत्ति होने लगेगी। अन्यत्र ज्ञातधर्माणामारोपो नैव सिध्यति। यदि सिध्येत्तदा सिध्येत्कर्मरोमादिविभ्रमः। अर्थ—दूसरे ठहिन अज्ञातधर्म है उसका आरोप भी दूसरी जगह नहीं होसकता है। यदि कोई यों कहे कि होता है तब तो धर्म तथा अधर्ममें भी रोमादिका ज्ञात होने लगेगा परन्तु राधान्तमें होता है नहीं। शरीर शरीरीभाव चिदचिद्विशिष्टके विना अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि न होगी। क्यों न होगी? यस्यात्मा शरीरं यस्य पृथिवी शरीरं। इत्यादि प्रबल गमक होनेसे ही शरीर शरीरीभावका स्वाभाविकत्व प्रतिपादन होने पर ही अद्वैत ब्रह्म वेदान्तवेद्य होसकता है।

यदि आप यों न स्वीकार करोगे तो अनेकानेक दोष उपस्थित होने लगते हैं। प्रथम दोष यह है कि ब्रह्म ही जीवभावसे होना। दूसरा ब्रह्म ही जगद्रूपसे होना इन सब दोषोंका गमन होने लगता है। अतः पूर्वोक्तार्थ ही समीचीन है और श्रुतियुक्त भी है। ब्रह्म के प्रपञ्चशरीरकत्व होने पर जैसे शरीरद्वारा शरीरी जीवके शरीरप्रयुक्त सुख तथा दुःखोंका अनुभव होता है, वैसे ही प्रपञ्च-गत दोष सब ब्रह्ममें ही प्राप्त होने लगेगा। समाधान—जैसे शरीर-गत ही बाल्यत्व यौवनत्व और वार्द्धक्यादि होते हैं, किन्तु प्रत्य-गात्मगत नहीं, तद्वत् ब्रह्ममें समझना चाहिये। ऐसा ही अद्वैत-वादमें भी स्वीकार किया गया है। अर्थात् अद्वैतमतमें उपाधि-गत ही दोष स्वीकार और चैतन्य ब्रह्ममें अनङ्गीकार है। अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्य-कामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः। स विजिज्ञासितव्यः। इत्यादि निर्दोषत्व प्रतिपादन होनेसे प्रपञ्चगत दोष ब्रह्ममें अप्र-सक्ति कही गई है। पूर्वपक्ष—जीवके भी प्रज्ञानघन और विज्ञान-घन यों ज्ञानैकारत्व प्रतिपादन होता है। अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् सर्वात्मा। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। इत्यादि प्रमाणोंसे ईश्वरका ही सर्वप्रेरकत्व प्रतिपादन होनेसे और दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। इत्यादि प्रमाणसे जीवोंको ईश्वरका दासभूतत्व प्रतिपादन होनेसे और जीवोंके स्वातन्त्र्य का अभाव होने पर जीवका भी शरीर द्वारा सुखाद्यनुभव न होना चाहिये। समाधान-जीवोंके शुभाशुभकर्मानुसार ही ईश्वर का संकल्परूप फलदातृत्व है। यदि यों न माने जावें तो प्रपञ्च-

सृष्टि भी न होगी। अतः सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यह वेद वचनोंसे सकल वेदवेद्यत्व भगवान् ही का प्रतिपादन करता है। ऐसे ईरित होने पर शङ्का होती है कि वेदमें ऐसे बहुत वाक्य आते हैं कि इन्द्रं स्तौति रुद्रं स्तौति देवीं स्तौति गणेशम् स्तौति । इत्यादि ऐसे असंख्यात वाक्य दीख पड़ते हैं । ऐसे संदिग्ध वचनोंके होनेसे कैसे कहा जासकता है कि केवल ईश्वरको ही प्रतिपादन करता है। यदि कहा जावे कि लक्षणाशक्ति द्वारा ब्रह्ममें पर्यवसान होसकता है सो भी नहीं होसकता है क्योंकि लक्षणा कहाँ पर मानी जाती है ? जहाँ पर अर्थका अघटित अर्थ होता हो वहीं पर लक्षणा की जाती है। जैसे 'गंगायां घोषः'—गंगाजीमें घर है। गंगाप्रवाहमें अघटितार्थ है क्योंकि गंगाशब्द जलप्रवाहका नाम है। तोयमें वेश्मका होना असंभव ही है, अतएव यहाँ पर लक्षणावृत्ति की जासकती है अर्थात् गंगातट पर पर्णकुटी है। परन्तु इन्द्रं स्तौति इस स्थलमें लक्षणाका मानना प्रायः व्यर्थ ही है क्योंकि यहाँ पर वाच्य और वाचकका समानाधिकार नहीं है—अर्थात् वाच्यनाम सुरस्वामी और वाचक इन्द्र शब्द । समाधान यह है कि इन्द्रः शरीरो यस्य। इन्द्र है शरीर जिसका वह इन्द्रशारीरक कहा जाता है अर्थात् ब्रह्मैक है। ऐसे ही अर्थ करनेसे वेदवाक्य भी फलितार्थ होगया। यदि इस अर्थको अस्वीकार किया जावे तो ब्रह्म अनन्तत्व अर्थात् असंख्यात प्रसंग होने लगेगा । अतएव पूर्वार्थ समाधान ही समीचीन है। स्वसिद्धान्तमें सकलशब्दवाच्यत्वाङ्गीकार होने पर ब्रह्मको काणादिपदवाच्यत्व प्रसंग होने लगेगा। यदि सिद्धान्ती ऐसे कहे कि स्वीकार ही है तो भी वह कथन श्रुति अयुक्त ही है क्योंकि काणत्वादि ब्रह्ममें बाधित

प्रत्यय है, अर्थात् काणादि ब्रह्म नहीं। उत्तर—यदि ऐसे कहें तो भी नहीं क्योंकि जैसे तीनों अवस्था जीवपर्यन्तत्व ही होती हैं, परन्तु जीवसम्बन्धी बाल्यत्वादि धर्म नहीं ही है, किन्तु प्राकृत शरीरके है, वैसे ही ब्रह्ममें जानना चाहिये। भल्लाः प्रविशन्तीत्यादि स्थलमें अजहत्लक्षणा करने पर ही पूर्णार्थका समन्वय होता है। यदि अजहत्लक्षणा न मानी जावे तो भल्लाः प्रविशन्ति का अर्थ स्पष्टीकरण न होगा। क्यों न होगा ? भल्ल शब्द स्वतः जड़ वस्तु है, प्रवेशन क्रिया की जड़वस्तुमें असम्भावना है। अर्थात् प्रवेशनक्रिया तो चेतनगत होती है, अतः अजहल्लक्षणाका स्वीकार करना योग्य ही है। प्रकृत (प्रकरण) में भी अजहल्लक्षणा ही करके इन्द्रादि पदोंको इन्द्रादिशरीरक ब्रह्मका बोधत्व संभव होसकता है। क्लृप्तशक्ति (स्वाभाविक शक्ति) लक्षणासे अतिरिक्त अपर्यवसान वृत्तिकी कल्पना करना ही कल्पनामात्र है। क्लृप्तशक्ति-नियतशक्ति। शक्तिका भेद तीन तरह का है—अविधाशक्ति, लक्षणाशक्ति और व्यञ्जनाशक्ति। अविधा शक्ति उसे कहते हैं कि जैसे गंगा। बालकसे लेकर वृद्धपर्यन्त यही जानते हैं कि गंगाशब्द जलप्रवाहका नाम है। लक्षणाशक्ति उसे कहते हैं कि मुख्यार्थको हेय कर तटमें अर्थ करना अर्थात् जलप्रवाहको त्याग कर तीरमें अर्थ स्वीकार करना। व्यञ्जना उसे कहते हैं कि तीरको त्यक्त कर कोशभर इधर उधर मनुष्यशाला हैं। ये जो पूर्वोक्तमें कहा कि अपर्यवसान वृत्तिकी कल्पना करनी कल्पनामात्र है वह भी कहना अयुक्त ही है क्योंकि भल्लाः प्रविशन्तीत्यादि स्थलोंमें भल्लादिके प्रवेशक्रियान्वयित्वकी अनुपपत्तिदर्शन होनेसे वहाँ पर अजहल्लक्षणाका स्वीकार सुष्ठुतर है। प्रकृतमें अनुपपत्ति दर्शन होनेसे क्लृप्त वृत्तिद्वयसे अतिरिक्त जो अपर्यवसानवृत्ति सो इन्द्रादिक ब्रह्मबोधक आवश्यकता ही है।

अपर्यवसानवृत्ति उसे कहते हैं जो स्वाभाविक होवे अर्थात् इन्द्रादि पदबोधक स्वाभाविक ब्रह्मका बोधक है। ननु अत्रापि इन्द्रादि-शरीरक ब्रह्मबोधकी अनुपपत्ति होनेपर ही इन्द्रादि पदोंमें अजहल्लक्षणा ही ब्रह्मबोध करनेमें बीज है। यदि ऐसे अजहल्लक्षणा-वादी कहें तो हम सब अपर्यवसानवृत्तिका व्यवहार अंगीकार करते हैं और आप सब अजहल्लक्षणाका अंगीकार करते हैं। कथनमात्रमें भेद है फलैक्यमें नहीं। अतः इन्द्रादिकं ब्रह्मैकमेव वेदान्तवेद्यमिति विशिष्टाद्वैतं ब्रह्म मुमुक्षूपास्यम्। ध्यानं वाव चित्ताद्भूयः। निश्चयपूर्वक चेतनात्मासे परस्वरूपका ध्यान होता है। विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयः। निश्चयपूर्वक ध्यानसे अधिक विज्ञान होता अर्थात् स्वस्वरूप और परस्वरूपका यथा-तथ्य ज्ञान होनेका ही नाम विज्ञानशब्दसे कहा जाता है। विज्ञान-मुपास्वेति। अत एव विज्ञानपदवाच्या भक्तिरूपा बुद्धिकी उपासना करनी चाहिये क्योंकि दोनों स्वरूप विज्ञान हीसे ज्ञात हुए हैं। बलं वाव विज्ञानाद्भूयः। विज्ञानसे अधिक श्रेष्ठ आत्मिकबल होता है। शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। साधनावस्था-पन्न एकसौ विज्ञानवेत्ताओंके मध्यमें सिद्धावस्थापन्न पुरुषसे सब कम्पायमान होजाते हैं। अन्नं वाव बलाद्भूयः। बलसे अन्न श्रेष्ठ है क्योंकि दश रात्रि नाश्नीय होनेसे अद्रष्टा अश्रोता अमन्ता अबोद्धा अकर्ता अविज्ञाता होने लगता है। स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपासते। जो मनुष्य ब्रह्मभावसे अन्नको उपासना करता है सो मानो समस्त लोकोंको तृप्त करता है। आपो वावान्नाद्भूयः अन्नसे आप श्रेष्ठ हैं क्योंकि जब अच्छी सुवृष्टि नहीं होती है तब निखिल प्राणधारी अचेतन होने लगते हैं अतः। तेजो वावा-

द्भयो भूयः। जलसे तेज अधिकतर है क्योंकि तेज वायुद्वारा नीर को आकर्षण कर आकाशको तपाता है पश्चात् आपो मुञ्चति तदान्नो भवति। आकाशो वाव तेजसो भूयान्। तेजसे आकाश महीयान् है क्योंकि सूर्याचन्द्रमसौ और विद्युन्नक्षत्राणि ये सब आकाशमें ही स्थित हैं और आकाशसे ही आह्वान गमनागमन सुनना आदि होते हैं। स्मरो वावाकाशाद् भूयः। नाकसे मनो-भव महत्तर है क्योंकि स्मरयुक्त जन्तु कश्चन (कुछ) भी नहीं सुनता है, न मन्वीरन् होता है, न विजानीरन् होता है किन्तु अनङ्गको ही स्मरण करता है। आशा वाव स्मराद् भूयः। मन-सिजसे आशा तृष्णा महीयसी है क्योंकि आशा ही के मध्यमें मनोभव रहता है, तदधीन होकर कर्म करनेमें तत्पर होजाता है। और आशापाशमें ही कृत्स्न विद्यमान रहता है। प्राणो वा आशाया भूयान्। आशा बिचारीसे प्राण बृहत् है क्योंकि जिस तरहसे रथनाभिमें आरा समर्पित है वैसे ही प्राणमें अखिलार्पित है। प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। ये समस्त दृश्यमान प्राण ही करके चेतनवत् चेतन होरहा है। एष तु वा अतिवदति। जो मनुष्य प्राणको ही अतिवदति (कहता है) सो मानो सत्य को ही कहता है। अतः सत्यरूप प्राण ही विजिज्ञासितव्य है। यदा वै विजानाति। जो मनुष्य प्राणको जान लेता है तब सत्य ही बोलता है। न अविजानन् सत्यं वदति अर्थात् न जानने वाला सत्य को नहीं बोलता है। विजानन् नानृतं कथयति अर्थात् जानने वाला सत्यको ही बोलता है, अत एव विज्ञानको जानो। यदा वै मनुऽतेऽथ विजानाति। जब मनुष्य मननयुक्त होता है तब ही जानने वाला होता है और मननरहित मनुष्य

नामत्वा होता है। मत्वा विजानाति अर्थात् मनन करके जान लेता है अत एव मतिको ही विज्ञासितव्य है। यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते। जब मनुष्य श्रद्दधाति होता है तब ही मनन वाला होता है। अश्रद्दधन् मनुष्य न मनुते। श्रद्दधदेव मनुष्य मननयुक्त होता है। इसी लिये मनुष्यको चाहिये कि श्रद्धाको ही धारण करना योग्य है। यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति। जिस समय में मनुष्य निश्चल होता है तब ही श्रद्दधाति होता है, तद्रहित न। अतः निस्तिष्ठन्नेव होकर श्रद्धाको धारण करता है। यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। जब मनुष्य अचल होता है तब ही पुण्यकृति को करता है। अकृत्वा नाचलति तिष्ठति, कृत्वैव निस्तिष्ठति होता है अतः यश कृतिको ही विजिज्ञासित होना चाहिये। यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। जिस जन्तु ने भूमा (व्यापक ब्रह्म) को भक्ति द्वारा जान लिया है वह भूमा से व्यतिरिक्त नहीं दीखता है और न शृणोति न विजानाति। जिस मानवने सुखस्वरूप भूमाको जान लिया है वही सुखस्वरूप भूमा होता है। जब भूमासे पृथक् पश्यति वा शृणोति वा विजानाति वही मनुष्य कृपण है, अर्थात् जन्ममरणरूप संसृति में पतति। यो वै भूमा है वही अमृत और अभय है। यदल्प है तन्मर्त्य है। तदेव भूमाकी महिमा इस लीलाविभूतिमें सदा ही विद्यमान है। और जब मनुष्य गो अश्व शेवधि हस्ती हिरण्यादि को ही आचरण करता है उसे मैं न ईरित कर सकता हूँ। स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः। वही सुखस्वरूप भूमा र पदवाच्यदेव-अधस्तन है वही उपरिष्टात् त्रिपाद विभूतिमें तदेव पश्चात् है वही पुरस्तमें

है स एव दक्षिणमें है और वही उत्तरमें विद्यमान है। जिस जन ने एवंभूत भूमाको जान लिया है वही जन पश्य मन्वान विजा- नत आत्मतः प्राण आशामत स्मर आत्मत आकाश आत्मत तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भाव तिरोभाव आत्मत अन्न आत्मत विज्ञान आत्मत ध्यान आत्मत चित्त आत्मत संकल्प आत्मत मन- आत्मत नामात्मत और निखिल कर्माणि आत्मत होता है अर्थात् ये पूर्व सब जानने वाला होजाता है। एकविज्ञानेन सर्वं विज्ञानं भवति। एक ही रकारपदवाच्यको जाननेसे उभयविभूतियोंको जानने वाला होजाता है। ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति। सर्वं ह पश्यः पश्यति। सदा पश्यन्ति सूरयः। तद्विष्णोः परमं पदम्। पञ्च प्राणोंका भेद दिखाते हैं। पायु और उपस्थमें अपानवायु संचार करता है। चक्षु श्रोत्र मुख और नासिकामें प्राणवायुका वासस्थान है। शरीरके मध्यभागमें समानवायु रहता है। यही समानवायु अशन अन्नरसको सर्वाङ्ग शरीरमें पहुँचाता है, अत एव सर्वाङ्ग हृष्ट पुष्ट होता है। हृदि ह्येष आत्मा। जाग्रत् अवस्था में चेतनात्मदेवका हृद्देशमें निवास रहता है, स्वप्नावस्थापन्न हो कर कण्ठदेशमें स्थित रहता है और सुषुप्त्यवस्थापन्न जब होता है तब ही ब्रह्मरन्ध्र नामकी नाड़ीमें प्रवेश करता है इसी लिये सुख- पूर्वक शयन करता है। व्यानवायु बहत्तर कोटि नाड़ीमें संचार करता रहता है। उदान वायु वक्ररहित मस्तकमें चला गया है। वही अधिक पुण्य होनेसे पुण्यलोकोंमें लेजाता है और पापापन्न को पापापन्न लोकोंमें पहुँचाता है। पाप और पुण्यके समानाधि- करण होनेसे ही मनुष्यदेहोपलब्धि होती है। आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः। कर्मफलान् अदत्ति इति आदित्यः आदित्य एव

आदित्यः। जीव ही बाह्यप्राण होकर उदय होता है तब ही चाक्षुष-प्राणको अर्थात् रूपको ही आददान करता है। पृथिवीमें जो देवगण है वही पुरुषसम्बन्धो अपानवायु हो करके अन्तराकाश में समानवायु और व्यानवायुरूपसे विद्यमान रहता है। तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्त तेजः। शरीरगत जो तेज है वही उदानवायु है वह मृत्युकालमें स्वतेजको आकर्षण कर लेता है तब ही न शरीर निष्ठ तेजका भाव होजाता है अत एव शरीर ध्वस्त होजाता है। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः। पुनः तेज स्वरूप जो उदानवायु है वही मनमें इन्द्रियोंके सह सम्बन्ध होने पर ही संसारचक्रमें स्रंसन होता है। चित्तका प्राणके साथ सम्बन्ध होता है और प्राणका तेजके साथ योग होता है तब ही प्रत्यगात्मसंकल्पित लोकोंको आददान करता है। वह जब उत्पत्ति आयति स्थान विभुत्व और पञ्चम अध्यात्म इन सबको जान कर ही अभयको ग्रहण करता है। मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वान् एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। सूर्य जब अस्ताचलको जाते हुए तत्सम्बन्धी जो किरण हैं वह तेजोमण्डलमें एकीभावको ग्रहण करती हैं। जब सूर्योदय होता है तब दशों दिशाओंमें मरीचिओं का विस्तार होता है। परे देवे मनस्येकीभवति। वैसे ही परदेव मनमें ऐक्यभाव होता है। इस वेदवचनमें मन शब्द परवाच्य चेतनात्माका बोधक है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन बुद्धि अहंकार ये सब चेतनात्मामें अस्तको प्राप्त होजाते हैं तब ही पुरुष चेतन न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते न इयायते सुषुप्ति कालमें ये सब कुच्छन नहीं होता है। यही शरीररूपी पुरमें प्राणाग्नि ही जाग्रत रहता है। यही शरीरमें अपान ही गार्हपत्य

है और व्यानवायु ही अन्वाहार्य पचन करता है। गार्हपत्याग्नि से ही प्राण संचार करता है और आहवनीय भी करता है। तात्पर्य यह है कि अग्निका भेद तीन प्रकारका है। गार्हपत्याग्नि उसे कहा जाता है जो सबके रूपमें होवे। आहवनीयाग्नि उसे कहा जाता है कि जो हवनकुण्डमें हो। अन्वाहार्याग्नि उसे कहते हैं कि जो अशन किये (खाये) हुए अन्नको पचावे—अर्थात् इसी शरीरमें तीनों ही अग्नि हैं। अपानवायु ही गार्हपत्य है। व्यानवायु अन्वाहार्य है। प्राणवायु आहवनीय है। इस शरीरमें उश्वास और निःश्वासरूप ही आहुति है। अदन (खाई) हुई वस्तुओं का समन करनेसे समानवायु कहा जाता है। इस शरीरमें मन ही यजमान है। इष्ट फलप्रद होनेसे ही उदानवायु कहा जाता है। वही उदान यजमानको प्रतिदिन ब्रह्मके समीप पहुँचाता है। तब ही दृष्ट अदृष्ट श्रुत अश्रुतादिओंको अनुभव करता है।

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्ष संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। उदालक उवाच। हे प्रियदर्शन नचिकेत जिस प्रकारसे सायंकाल होते ही दशों दिशाओंमें से पक्षिगण आकर एक वृक्ष पर रात्रि भर निवास करते हैं वैसे ही परदेव पदवाच्य आत्मामें सर्वेन्द्रिय समूह स्थित होकर ही गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द और द्रष्टव्य श्रोतव्य घ्रातव्य रसयितव्य स्पर्शयितव्य वक्तव्य दातव्य आनन्दयितव्य विसर्जयितव्य गन्तव्य मन्तव्य बोद्धव्य अहंकर्तव्य चेतयितव्य तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च तब ही ये सब आत्मामें होता है। एष हि द्रष्टा श्रोता स्प्रष्टा घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। विज्ञानस्वरूप अर्थात् धर्मभूत ज्ञानस्वरूप चेतनात्मामें ये सब होते हैं। इन्द्रियोंमें नहीं होसकता क्योंकि अचेतन होनेसे स्वस्वरूपसे

आत्मा अकर्ता है इन सबोंके संश्लेषसे ही कर्तापनेका व्यवहार होता है। यही शरीरान्तःकरणमें षोडशकलायुक्त चेतनात्मा विद्यमान है। वही इच्छा करता हुआ कि मैं किसके उत्क्रमण करने पर उत्क्रमण वाला होऊँगा और किसके स्थित होने पर मैं स्थित होऊँगा। ऐसा विचार कर प्राणको बनाया। प्राणसे श्रद्धा खं वायु ज्योति आप पृथिवी इन्द्रिय मन अन्न, अन्नसे वीर्य तप मन्त्र कर्म लोक और लोकोंके विषयमें नाम ये सब षोडश कला कहे जाते हैं। प्रश्न—ये सब क्यों बनाये जाते हैं? उत्तर—यह है कि जीवके शुभाशुभ कर्म कर्मविपाक भोगानेके लिये ही ईश्वरेच्छा है। द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। विद्या दो तरहकी है, परा और अपरा। अपराविद्या ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त ज्योतिष इन सबका केवल जाननेसे पुनरावृत्ति होती है। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। उपासन भक्ति ज्ञान वेदन ध्यान इन सबके द्वारा अक्षर ब्रह्म श्रीराम श्रीकृष्ण श्रीनारायणादि नाम इनके नाम स्मरण द्वारा अधिगम्यते नाम मोक्षको प्राप्त होता है जहाँ पर जाकर पुनः नहीं लौटता है वही पराविद्या कही जाती है। प्रश्न—जब चेतनात्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है तो मोहादि क्यों होता है? उत्तर— लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च। देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते। लोकवासना शास्त्रवासना और देहवासना ये तीन इषणा कहे जाते हैं यह तीन इषणा होनेसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। जो मनुष्य इन इषणासे रहित होगा वही पूर्ण ज्ञानको प्राप्त कर लेगा पश्चात् स्वस्वरूपाविर्भाव होजायगा। वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा। मलिना जन्महेतुः

स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी । भगवद्विषयवासना मोक्षदायक है शुद्ध होनेसे । संसारविषयक वासना ही संसारप्रद है । अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः। ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा । चारों वेदोंको पठन कर चुका है और वेदांगोंको भी अध्ययन कर चुका है । परन्तु जिसने ब्रह्मसंबन्धी नाम रूप लीला और धाम इन चारोंका परिशीलन नहीं किया है वह मनुष्य कैसा है कि मानो दर्वी (करछूल) के समान है अर्थात् दर्वी षट्रस वस्तुओंमें परिघट्टन करती है तथापि उस को ज्ञानाभाव ही है । वैसे ही शास्त्राधीत्य पुरुष हैं अत एव वेदवाक्य विशेषरूपसे ही ईश्वरभक्तिको ही विधान करता है । अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः । बद्धो हि वासना-बद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः । प्राकृत देह अत्यन्त मलिन है, देही (चेतनात्मा) अत्यन्तनिर्मल है । आत्माका बन्धन क्यों है ? उत्तर—वासनासे वासित होनेसे बन्धन है और वासनाक्षय होने से मोक्ष है । वासनाका क्षय होना अत्यन्त दुरत्यय है अतः मोक्षा-भाव ही है। समाधान यह है कि भक्तिसम्पन्न प्राणिमात्रमें अत्यंत वासना वासित है तो भी साम्परायिक समयमें निर्वासनायुक्त होजाता है क्योंकि ईश्वरेच्छ कृपापात्र होनेसे । क्योंकि ईश्वरकृपा के विना केवल स्वकर्तव्यसे मोक्ष कदापि न होगी, मोक्षमें सहा-यक केवल ईश्वर ही कृपा है । जैसे रोगीष्ट मनुष्यका अनेकानेक पदार्थ पर चित्त चलायमान होता है परन्तु उपलब्ध वस्तुओंको होजाने पर भोग्यरहित ही इच्छाकी पूर्ति होजाती है, वैसे ही ईश्वरज्ञानी के विषयमें समझना चाहिए । उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति । तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं नैव विद्यते । प्रारब्ध के भेद तीन तरहके हैं । पूर्वार्जित आगामी और क्रियमाण । जब

श्रीहरिके चरणकमलों में अव्यभिचारिणी भक्तिका प्रादुर्भाव होनेसे ही सञ्चित कर्मोंका नाश और आगामी कर्मोंकी रुकावट होजाती है, परन्तु क्रियमाण प्रारब्धोंको तो भोगना ही पड़ता है। कोई महानुभाव ऐसा भी कहते हैं कि अत्यन्त वैराग्यपूर्वक भक्ति के प्रकट होनेसे ही क्रियमाण प्रारब्ध कर्म भी नाश होजाते हैं। यह भी कथन समीचीन है जैसे मनुभगवान् पीपाजी भर्तृजी मीराजी इत्यादि अनेकानेक महान् वैराग्यवान् जनोंने स्वप्रारब्ध को भी नष्ट कर दिया है। सामान्य प्राणियोंको तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा, और सांसारिक प्राणियोंका तो तीनों ही भोग करके छुटकारा होगा। दैवी वागनुवदति स्तयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतदेवैषा शिक्षेदमं दानं दयामिति। श्रीब्रह्माजीकी तीनों प्रजायें हैं देवगण मनुष्यगण और असुर-गण। वे तीनों श्रीब्रह्मदेवजीके सन्निकर्ष जाकर ऊचुः हे पिता-मह हम सबोंको धर्मोपदेश कीजिये। श्रीब्रह्मदेव उवाच। तीनों प्रजाओंके मध्यमें द ऐसा शब्दोच्चारण करके पूछा कि भो प्रजाः मद्दत्तोपदेश समझे न वा। तत्पश्चात् प्रजागण बोले कि हाँ समझ गये हैं। ब्रह्मदेवजीने पूछा कि क्या समझे ? प्रथम देवगण बोले 'दाम्यम्' अर्थात् इन्द्रियोंको स्ववशमें रखना। पश्चात् मनुष्यगण बोले 'दत्त' अर्थात् कुछ देते रहना, केवल अपना ही उदर नहीं भरना। पश्चात् असुरगण बोले 'दयध्वम्' अर्थात् प्राणिमात्र पर दयाभाव सदा ही करते रहना। श्रीब्रह्मदेवजी बोले कि हे प्रजा-गण आप सब अच्छी तरहसे समझ गये हो। इसी उपदेशको स्तनयित्नुदेवी विद्युत् भी उपदेश देती है। जब विद्युत् गर्जती है तब द द द ऐसा ही शब्दाविर्भाव होता है अर्थात् तीन द शब्दोंसे तीनों ब्रह्माण्डोंको उपदेश देती है। तात्पर्य यह है कि

देवगणोंमें इन्द्रिय विषयका प्राधान्य है, मानवोंमें लोभ ही का प्राबल्य है और असुरगणोंमें हिंसा ही मुख्यतर है। अत एव तीनों प्रजाओंको उपदेश होरहा है। प्राकृत मण्डलोंमें दो पदार्थ प्राधान्यत्वेन स्वीकार होते हैं। श्रेय और प्रेय इन दोनोंमें ही जीव बँधा पड़ा है। श्रेयको चाहने वाला मुमुक्षूपासक श्रीहरि सम्बन्धी जो नाम रूप लीला और धाम इन चारोंको ही आददान करता है। प्रेय पदार्थ जो रमा हिरण्य पशु रथादि ये सबको ग्रहण करता है। परन्तु धीर मनुष्य इन दोनोंको संपरीत्य करके विविनक्ति करने लगता है। श्रेयो हि धीरो वृणीते—अर्थात् धीर (ज्ञानी) श्रेयको ही स्वीकार करता है। योगक्षेमके लिये मन्द मानव प्रेय पदार्थको ही वृणीत करता है, परन्तु यह पतन हो जाता है। सत्य, दान, तपः, कर्म, शम, दम, अहिंसा ये सप्त गुण जिस मर्त्यमें होंगे वही भक्ति ज्ञानोपासनाओंका योग्यपात्र होगा। कृत्स्न प्राणियोंका पृथिवी ही आश्रय है, पृथिवीका आप आधार है। तोयका आधार ओषधि है, ओषधियोंका आश्रय पुरुष हैं। पुरुषके वाक् आधार है, वाक्का ऋग् (विनय) आधार है। ऋग्का सामवेद आधार है, सामवेदका आधार चतुवर्गात्मक प्रणव पदवाच्य श्रीराम प्रभु हैं अथवा वाग्का ऋग्वेद आधार है। ऋग्वेदका आधार साम है अर्थात् सम एव साम ब्रह्म हैं, साम का ओम् आधार है। तात्पर्य यह है कि प्रणवके ही द्वारा सामाविर्भाव होता है, यही पूर्ण नियम है। इसी अर्थको ऋग्वेद भी प्रकाश कर रहा है। अकाराक्षरसंभूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥ प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकारक्षरसम्भवः। अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः। अ उ म र्‍ रेफ ये हो चार अक्षर जिस पद में वही ओम् शब्दसे

प्रथित नाम श्रीहरि प्रभुका है। इसी प्रणवको उद्गीथ शब्दसे भी वेद ईरित करता है। आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। प्रणवपदवाच्य श्रीराम प्रभुसे आकाश की उत्पत्ति होती है। ये पूर्वोक्त समन्वयसे ही पुरुषपदवाच्य जीवोंको अन्नरसमयत्व वेद आचक्षण करता है। इसी लिये प्राणिमात्रको अन्न ही पर आश्रय है। अत एव अन्न ही सर्वोत्कृष्ट ओषधिरूपसे ईरित है। इसी कारणसे वेद आदेश करता है कि क्षुधित प्राणियोंको अन्न दो, अतः अन्नको ब्रह्मरूपसे आह्वान किया जाता है। अन्नसे ही भूतोंका जनन होता है और उत्पन्न होने वाले अन्नसे ही वृद्धि होती है। अन्नरससे विविक्त होकर आत्मा प्राणमयत्वापन्न होता है। आत्माके प्राणके सह होने पर ही पूर्ण धर्मयुक्त होता है, इसी कारणसे आत्माको पुरुष शब्दसे कथन होता है। वह आत्मदेवके प्राण ही शिर (आधार) रूप है, व्यानवायु दक्षिणपक्ष (भुजा) है, अपानवायु उत्तरपक्ष है। प्राणसे ही देवगण और मनुष्यगण जीवित रहते हैं और प्राण ही भूतसमूहोंका आयुरूप है। इसी लिये प्राणको ब्रह्मभावसे चक्षित है। प्राणमयसे पृथक् होकर आत्मा मनोमयत्वरूप धर्मापन्न होता है, तब ही आत्मामें पूर्ण धर्मापन्न होता है। आत्मा और मनके साथ संश्लेष होने पर ही पुरुषपदवाच्य होता है। आत्माका यजुर्वेद शिर है, ऋग्वेद दक्षिणपक्ष है, साम उत्तरपक्ष है, आदेश आत्मा ही है। अथर्वाङ्गिरस पुच्छ हैं। मनोमयसे भिन्न होकर ही आत्मा विज्ञानमयत्वापन्न होता है, अतः आत्मामें पूर्णत्व धर्मयुक्त होता है और पुरुष भी कहा जाता है। चेतनका

श्रद्धा ही शिर है, कर्म ही दक्षिणपक्ष है, सत्य ही उत्तरपक्ष है, योग ही आत्मा है महः पुच्छ है। अत एव आत्माको विज्ञानोपलब्धि होने पर ही विशेष ज्ञानको अर्थात् ब्रह्मापरोक्ष ज्ञानको विस्तृत करता है और शुभाशुभ कर्मोंको भी तनुत करता है। इसी लिये देवगणोंमें विज्ञानका प्राधान्य होनेसे ही सात्विकभाव रहता है, और इसी हेतुसे विज्ञानको ब्रह्मशब्दसे वेद व्याचष्टिर करता है। जब वह चेतनात्मा ब्रह्मरूप विज्ञानको जानलेता है तब ही न प्रमाद-रहित होजाता है, और अपने शरीरमें रहे हुए अहंको त्यक्त कर संपूर्ण कर्मजन्य विपाकोंको समश्नुत करता है। विज्ञानमयसे भिन्न ही होकरके आत्मा आनन्दमयमें आजाता है तब ही पूर्ण धर्मविशिष्ट होता है और पुरुष भी कहा जाता है। अत एव आत्मदेवके प्रियमेव शिर है, मोदो दक्षिणपक्ष है, प्रमोद उत्तर-पक्ष है और आनन्दरूप आत्मा है। ब्रह्मपुंच्छं प्रतिष्ठा। अर्थात् जिस मानवका एक ब्रह्म ही आश्रय है वही जीवकी परमशोभा होती है जैसे पतिविशिष्ट पत्नीवत्। इस शरीररूप रथमें आत्मा रथी (रथस्वामी) है, बुद्धि सारथी है, मन ही प्रग्रह (लगाम) है और बाह्य दशेन्द्रिय हय (अश्व) हैं। विषयरूप गोचर (मार्ग) हैं। इन्द्रिय और मनके साथ होकर आत्मा भोक्ता है। अर्थात् आत्मदेवका मनको सह संश्लेष होता और मनका इन्द्रिय सह प्रश्लेष होता है और इन्द्रियोंके विषयका साथ होने पर ही आद-दान होता है। इन्द्रियोंसे अर्थ (विषय) परे है, अर्थसे मन परे है, मनसे बुद्धि परा है। बुद्धिसे आत्मा परे है, आत्मासे मह-त्तत्त्व परे है। अर्थात् महत्त्वका ही शरीरेन्द्रिय कार्य है और आत्मा इसी शरीरेन्द्रियोंके द्वारा कर्ता तथा भोक्ता रहता है, अतएव महत्त्व बड़ा कहा गया है। महत्त्वसे अव्यक्त (प्रकृति) पर है, अव्यक्त (प्रधान) से पुरुषपदवाच्य परमात्मा पर है। पुरुष

से पर दूसरा कोई पर नहीं है क्योंकि पुरुष ही परा गतिका एक ही काष्ठा (साधन) रूप है। असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। यह वर्त्तमान सृष्टिके पहले असत् ही था अर्थात् नामरूपका अनर्ह हो अर्थात् नाम और रूपका स्पष्ट रूपसे ग्रहण न होनेसे असत् शब्दसे वेद कथन करता है। उसी असत्से सत्कार्यका प्रादुर्भाव हुआ अर्थात् नाम और रूपका प्रत्यक्ष होने पर हो सत् शब्दसे वेद कथन करता है। ब्रह्मने स्वयं आत्माको अर्थात् चिदचिद्विशेषणोंको ही भोग्य भोक्ता रूपसे बनाया, क्योंकि इस शरीरमें कर्ता और भोक्ता जीव ही है और अन्य सब बुद्ध्यादिक जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं पाप और पुण्यका कर्ता और भोक्ता जीवसे भिन्न कोई नहीं क्योंकि वेदादि शास्त्रोंमें यही सिद्धान्त है। श्रोत्रेण शृणोति चक्षुषा पश्यति बुद्ध्या निश्चिनोति मनसा सङ्कल्पयति। इत्यादि प्रतिपादन किया है। जैसे असिना छिनत्ति शिरः तलवारको लेकर किसी का शिर काटता है। इसमें काटनेका कर्ता मनुष्य ही है, छेदनेका करण तलवार है तथा भेदनेका कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मानव—जो मारने वाला है उसीको होता है साधनको नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकोंसे पाप पुण्यका कर्त्ता भोक्ता जीव ही है अन्य नहीं जडत्वात्। इसी अर्थको प्रकाशक अन्यान्याचार्यादिकों ने सिद्ध किया है कि— इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति। ये छः इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान चेतन निष्ठ हैं। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति। इस वेदवचनमें भी जीव सुख दुःखका भोक्ता और धर्माधर्मका कर्ता सिद्ध होता है, अनुभवसे भी चेतनात्मा ही कर्ता और भोक्ता है। इसमें कुछ संदेह

नहीं है कि केवल इन्द्रियाराम होकर विषयभोगरूप स्वमतलब साधनेके लिये यह कथन बनाया है कि जीव अकर्त्ता अभोक्ता और पाप पुण्यसे रहित है यह बात नूतनाचार्योंने कथन की है। यह भोक्ताके स्वरूप दिखाये गये हैं, अब भोग्यस्वरूपका निरूपण करते हैं। सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। अर्थ—प्रत्यक्ष जगत्का मूल सत्य है। उसकी शाखा पल्लवादिक मिथ्या कैसे होगी तथा जो सर्वेश्वरका सामर्थ्य जगत्का कारण है सो नित्य ही है क्योंकि भगवान् नित्य हैं तो उनका सामर्थ्य भी नित्य है। उन्हींसे यह जगत् हुआ है सो यह मिथ्या कैसे होसकता है किन्तु नहीं। यदि ऐसा कहो कि आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा। वह यह कथन असंगत ही है क्योंकि जो पदार्थ पूर्व नहीं है सो फिर नहीं आसकता। जिस कूपमें जल नहीं है उससे पात्रमें जल नहीं आता। इस लिये ऐसा जानना चाहिये कि सर्वेश्वरके सामर्थ्यमें अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था सो इस समय है और आगे भी रहेगा। कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोगसे पूर्व नहीं होसकता, वियोगान्तमें नहीं रहता सो वर्त्तमानमें भी नहीं सो जानना चाहिये। इसका यह उत्तर है कि विद्यमान सत् पदार्थोंका ही संयोग होता है। जो पदार्थ नहीं हों उनका संयोग भी नहीं होता इससे वियोगके अन्तमें भी विविनक्ति वे पदार्थ सदैव रहते हैं। कितना ही वियोग हो तो भी अन्तमें अत्यन्त सूक्ष्मपदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्दिग्ध नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ सो भी मान्य करनेके योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्त्तमानमें संयुक्त पदार्थ होकर पृथिव्यादि जगत् बना है सो पदार्थोंके मिलनेके स्वभावके विना कभी नहीं मिल

सकते। तथा वियोग होनेके विना वियुक्त नहीं हो सकते सो मिलना और विभिन्न होना यह पदार्थोंका गुण ही है। जैसे मिट्टीमें मिलनेका गुण होनेसे घटादि पदार्थ बनते हैं बालुकासे नहीं सो मृत्तिकामें मिलने और अलग होनेका गुण ही है। सो गुण सहज स्वभावसे है वैसे प्रधान पुरुषेश्वरका सामर्थ्य जिस से यह जगत् बना है उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत्का कारण जो नारायणका सामर्थ्य सो नित्य है तो उसके वियोगादि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत्को मिथ्या कहते हैं उनका कहना और सिद्धान्त मिथ्याभूत है। श्रुति तो नित्य ही जगत्को कहती है ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। इस वेदवाक्यसे भी निश्चित हुआ कि भोग्याप्रकृति जीवोंके लिये नित्य ही सिद्ध हुई। अर्थात् जीवोंकी बद्धावस्थामें भोग्या है और मुक्तावस्थामें भी भोग्या है। परन्तु इतना ही अन्तर है कि बद्धावस्थापन्नमें कर्मतन्त्रत्वेन भोक्ता है। मुक्तावस्थापन्नमें कर्मतन्त्रत्वेन न भोक्ता किन्तु तदात्विकरसत्वेन अर्थात् स्वातन्त्र्यत्वेन भोक्ता है। प्रकृति से विभिन्न कभी भी नहीं रहसकता है परन्तु एतावत् भेद है जैसे मिट्टी और काँचकी तरह समझना चाहिए। सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चिता। इस श्रुतिमें मुक्त जीवों के स्वभाव वा गुण और ऐश्वर्य दिखाते हैं। जो चेतनात्मा जीव है वह सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी को स्व-बुद्धि ज्ञानमें निहित (स्थित) जानता वा प्राप्त होता है वह परम व्योम व्यापकस्वरूप जो परमेश्वर उनमें मोक्षसमयमें स्थिर होता है। पश्चात् निखिलविद्यायुक्त सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्त्व जो ब्रह्म उस

के सह समस्त काम्य कर्मोंको प्राप्त करता है—अर्थात् सब दुःखों से छूटकर सर्वेश्वरके साथ नित्यानन्दमें रहता है। जो महानुभाव निराकार निर्गुण निरवयव मानते हैं उनके मतमें इन तीनों कथनोंका इस वेदवचनसे ही निराकरण होगया क्योंकि श्रुति कहती है कि मुक्तजीव समस्त ब्रह्मके साथ भोगोंको भोगता है। तहाँ यह सन्देह है कि सविशेष विना और स्थान विना इस श्रुति की चरितार्थता कैसे होगी। इस लिये यही अर्थ स्वीकार करना चाहिए कि नित्याकार निर्गुण प्राकृत गुण है या निरवयव प्राकृतावयवोंसे रहित अर्थात् अध्यात्म अधिदैव और अधिभूत इन तीनोंसे रहित अवयव जिसका है। वैकुंठः साकारो नारायणः साकारश्च। इस श्रुतिमें दोनोंका नित्यत्व प्रतिपादन किया गया है अर्थात् नित्यनिवासस्थान और नित्यनिवासस्थान स्वामी है अतः विरोध नहीं। साकारस्तु द्विविधः।सोपाधिको निरुपाधिकश्च इस वेदवचनमें दो साकारका निरूपण है। उपाधिक साकार किसे कहा जाता है? आविद्यकमखिलकार्यकारणजालमविद्यापाद एव नान्यत्र। अखिलकार्यरूप जगत्कारणरूप प्रकृति महत्त्व अहंकार पञ्चतन्मात्रा और पञ्चमहाभूत इस अविद्यापाद का फैलानेवाला आविद्यक कहा जाता है ये ही अनित्यसाकार अर्थात् सोपाधिक साकार है। इसी हेतुसे अविद्योपाधि साकार सावयव ही है अत एव अनित्य है। सोपाधिकसाकार वर्णित। तब निरुपाधिक साकारका भेद निरूपण किया जाता है। निरुपाधिकसाकारस्त्रिविधः। निरुपाधिक साकार तीन प्रकारका है ब्रह्मविद्यासाकारश्चानन्दसाकार उभयात्मकसाकारश्चेति। त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति। नित्यसाकारो मुक्त-

साकारश्चेति । नित्यसाकारस्त्वाद्यन्तशून्यः शाश्वतः । वे त्रिविधसाकार कौन कौनसे हैं ? ब्रह्मविद्यासाकार, आनन्दसाकार और उभयात्मकसाकार इन भेदसे । त्रिविधसाकारोऽपि फिर दो विध है । नित्यसाकार और मुक्तसाकार इन भेदोंसे । इन दो विधसाकारोंमेंसे नित्यसाकार आदि और अन्तसे रहित शाश्वत है। उपासनया ये मुक्तिं गतास्तेषां साकारो मुक्तसाकारः। जो महानुभाव ध्यान वेदन स्मृति निदिध्यासन रूप उपासनाके द्वारा त्रिपादविभूतिमें गये हुए, उनको मुक्तसाकारभावसे कहा जाता है, उस विद्वान्को खंडशून्य ज्ञानाविर्भाव होता है । सोऽपि शाश्वत साकार है अथवा मुक्तसाकार ऐच्छिक है। प्रश्न—विद्यादि साकारका भेद क्या है ? उत्तर—विद्या (ज्ञान) का प्राधान्य (मुख्यतर) होनेसे विद्यासाकार (ऐच्छिक) रूपसे कही जाती है क्योंकि संकल्पपूर्वक रूप धारण किया है अतः । आनन्दप्राधान्येनानन्दसाकारः । प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जिसमें जितना ज्ञान है उसमें उतना हो आनन्द (सुख) मिलता है । निस्सीम ज्ञानस्वरूप होने पर निस्सीम आनन्दका प्राधान्य होनेसे आनन्दसाकारशब्दसे कहे जाते हैं। उभयप्राधान्येनोभयात्मकसाकारश्चेति उभयप्राधान्य होनेसे अर्थात् विद्या और आनन्दके मुख्य होने पर उभयात्मकसाकार शब्दसे वेदवचन ईरित करता है। ये त्रिविध के प्राधान्य होनेपर ही भेद है और भेदका भी अभेदमें ही समावेश है। परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव । सर्वव्यापक परब्रह्मके विषयमें साकार और निराकाररूप भेदविरोध नहीं सम्भव है क्योंकि विविधविचित्रानन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते । विविध

विचित्र अर्थात् आश्चर्यजनक अनन्तशक्तिविशिष्ट परब्रह्म के नित्याकारका साक्षात्कार होनेमें कोई दूषण नहीं क्योंकि उपासक के हृदयकमलमें स्वरूप ज्ञान प्राक् होता है पश्चात् अखण्ड संयोग होता है, वही मोक्ष है। तदभावे सत्यनंतविरोधो विभाति रूपके ज्ञानाभाव होनेमें अनेकानेक आपत्तियाँ आ घेरती हैं। प्रथम तो मोक्षाभाव द्वितीय श्रुतिविरोध तृतीय ब्रह्मवित् पुरुष के आनन्दाभाव चतुर्थ जलताडनवत् निष्फल ये सब आपत्तियाँ आ पड़ती हैं अत एव अखण्डाकार स्वरूप ब्रह्म है। अन्यथा सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं तर्हि केवलनिराकारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्वमापद्येत। तस्मात् परब्रह्मणः परमार्थतः साकार-निराकारौ स्वभावसिद्धौ। मैंने जो अर्थ प्रतिपादन किया है उस को अंगीकार न करोगे तो स्वीयत्वेन उभयस्वरूप है। परन्तु सर्वगत परब्रह्मस्वरूप साकारके विना केवल आकाररहित यद्यपि आपका मत है तो भी समीचीन नहीं क्योंकि केवल निराकार आकाश जड़त्वापन्न है वैसे ही परब्रह्म भी जड़त्वभावापन्न होने लगेगा, अत एव यथार्थ परब्रह्मका सौन्दर्याब्धि उभयस्वरूप सुतराम् है। ऐसे अर्थ करने पर भी दोष ही दीख पड़ता है क्योंकि अनेकानेक श्रुतियोंमें एकही ब्रह्मप्रतिपादक है अब तो दो स्वरूप होगया और श्रुतियोंमें बाध्य बाधकभाव भी नहीं होता किन्तु समबल ही होता है। समाधान—जहाँ पर निराकार वाक्य द्योतक है तहाँ पर यही अर्थ करना योग्य है। प्राकृताकारशून्य नित्य दिव्याकार अथवा त्रिपादविभूतिमें श्रीहरि रहते हैं तब निराकार शब्दसे वेद आमनन्ति करता है। जब वही श्रीहरि लीलाविभूतिमें पधारते हैं तब साकारशब्दसे श्रुति वर्णित करती है।

क्योंकि प्राकृतविभूतिमें सर्वेन्द्रियगोचर होजाते हैं अतः ऐक्या-
विर्भाव है, इसी लिये ब्रह्मैक्य है। तस्मादेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मा-
विद्याशबलं भवति। सत्शब्दवाच्य परब्रह्ममें अविद्या (प्रकृति)
लाञ्छनरूपसे (चिह्नरूपसे) विद्यमान रहती है, उसीके द्वारा
सत्पदवाच्य ब्रह्म महदायतनरूपाण्ड करते हैं, अतः ब्रह्म निर्दोष
है। जो महानुभाव ब्रह्ममें अविद्या मानते हैं उनके मतमें पग पगमें
श्रुति और स्मृतियोंसे दोष आपड़ता है। ततो महत्। अविद्या
से अखिल वस्तुओंका कारणरूप महत्त्व हुआ। महतोऽहंकारः।
अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि।
पञ्चभूतेभ्यो ब्रह्मैकपादव्याप्तमेकमविद्याण्डं जायते। इस वेद-
वचनमें भी अविद्या शब्दसे प्रकृति गृहीत है इसी लिये चतुर्दश-
भुवन एक पादमें वर्णित कर रहा है। पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म
तत्रैकमविद्यापादं। परब्रह्मके दो विभूतियाँ हैं। नित्यानित्य इन
भेदोंसे अनित्यपादैक है अर्थात् लीलाविभूति एक पादमें है इसी
लिये अविद्यापाद संज्ञा वाली कही जाती है। त्रिपादविभूति
(नित्यनिवासस्थान वैकुण्ठलोक) तीन पादमें है इसी लिये
त्रिपाद नित्यविभूति अमृत अक्षय और विरजा नदी पार इन
नामोंसे कही जाती है। पादत्रयात्मकं ब्रह्म कैवल्यं शाश्वतं पर-
मिति। ब्रह्मको जो पादत्रयात्मकरूप विभूति है कैवल्य शाश्वत
पर इन गुण वाली है। सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसौ विद्युन्नक्षत्राणि। इन सबोंका भी प्रकाशक पाद-
त्रय है और अविद्यकपादसे पर है। अभयप्रदत्रिभूति निराधार
और स्वयंप्रकाश ईश्वरेच्छ ही है। तमश्शब्देनाविद्या। पादो-
ऽस्य विश्वा भूतानि। त्रिपादस्यामृतं दिवि। त्रिपादूर्ध्वं उदैत्

पुरुषः । पादोऽस्येहाभवत् पुनः । परं ज्योतिस्तमस उपरि विभाति स्पष्टरूपसे श्रुतियाँ उभय विभूतियोंको वर्णित कर रही हैं। कोई महानुभाव जीवका ब्रह्ममें लय अंगीकार करते हैं, उनके मतमें अनिर्मोक्ष दोष आता है तथा मोक्षके साधन भी निष्फल होजाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टिके पूर्व ब्रह्म मुक्त था वही अविद्याभ्रम अ-ज्ञानोपाधिके साथ होनेसे बद्ध होगया है। वैसे ही प्राप्तमोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधिका प्रसंग होजायगा इससे मोक्षकी नित्यता नहीं रही तथा जिस मोक्षके लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं उस मोक्षको प्राप्त होने वाले जीवका लय ही होना है फिर सब साधन निष्फल होजायँगे। क्योंकि मुक्तसुखका आनंद भोगने वाले जीवका नाम निशान भी नहीं रहता तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालोंके मतमें ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी होजाता है क्योंकि जब सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी तब वह ज्ञानस्वरूप था वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होकर दोषी होगया सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्तशास्त्रोंसे अत्यन्त विरुद्ध जल्प है। शुद्धमपापविद्धं कविर्मनीषी परिभूः। ब्रह्म सदा शुद्ध पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणविशिष्ट है उसमें अज्ञानादि दोष कभी नहीं आसकते क्योंकि देशकाल वस्तुका परिच्छेद ईश्वरमें नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीवमें होते हैं। अस्य देहत्यागेच्छा यदा भवति तदा वैकुण्ठपार्षदाः सर्वे समायान्ति। जो लोग जीवको ब्रह्ममें लय मानते हैं उनके मतमें इस वेदवचनमें व्याकोप होगा। जब ज्ञानी देहत्यागेच्छा करने लगता है उसी समयमें भगवत्-प्रेषित श्रीवैकुण्ठवासी नित्यसूरि लेजानेके लिये आते हैं। इन श्रुतियोंसे यह भी निश्चित हुआ कि पार्षद देशविशेषमें नयन करते हैं और उभयात्मक साकारका भी निश्चित हुआ। कोई ऐसे

भी लोग हैं कि उनका यह कथन है कि ब्रह्म ही जगद्रूपसे बना है सो भी श्रुत्यसंगत ही है क्योंकि त्वमस्य पारे रजसो व्योम्नः स्वभूत्यांजा अवसे धृषन्मनः । चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् । ऋ. सं. अ. १ । हे सर्वेश्वर आपने स्वभूत्या स्वसामर्थ्य तथा ओजसः अनन्त पराक्रमसे भूमि जल स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमिसे लेकर सूर्य पर्यन्त सब जगत्को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो। न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः। नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् । हे भगवन् एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आपका अनुषङ्गी आपके रचन और धारणसे विद्यमान होरहा है सो आपसे पृथक् ही है आपका स्वरूपभूत नहीं क्योंकि अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि । इस सब जगत्को आपने स्वरूप से अन्यत् विभिन्न वस्तुभूत रचा है आप जगद्रूप नहीं बने। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । पूर्वपक्ष नदन यह है कि वही ब्रह्म जगत्को उत्पन्न करके फिर प्रविष्ट हुआ इसमें जीवात्मारूप अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर नामरूपका व्याकरण करूँ इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है। उत्तर—यह आप सबका मनमानी अर्थ है। क्योंकि परिपूर्ण एक रस सबमें जो भरा है वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता किन्तु जीव बुद्धिसे जब तक अज्ञानी रहता है और उसी बुद्धिसे जीवको जब ज्ञान होता है तब उसीमें ईश्वर प्राप्त होता है अन्यत्र नहीं । इससे जीवको ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरेमें प्रविष्ट हुआ था वा जब जब

जिस जिस जीवको ईश्वरका ज्ञान होता है तब तब उस उसको प्रथम अपने आत्मामें ही होता है। इससे यह भी निश्चय होता है कि प्रवेशका करने वाला तथा जिसमें प्रवेश करता है उन दोनोंका विभिन्न ही होना निश्चित है। तथा एक प्रवेशका करने वाला और दूसरा अनुप्रवेश करने वाला होता है क्योंकि शरीरं प्रविष्टो जीवः जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति। इस विधि अर्थ करनेसे ही यथातथ्याभिप्राय इन वचनोंका विदित होता है किंवा सहार्थ में तृतीया विभक्ति है। अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणि सान्वयः। इस अर्थमें एक ही प्रबल गमक है। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। एक ही शरीर में जीवात्मा और परमात्माका विधान और संग प्रतिपादन है। इससे जीव और सर्वेश्वरको एक मानना केवल अरण्य मानवोंका गीत है। नेतरोऽनुपपत्तेः। इतर जीवोंसे जगद्रूप रचनाकी चेष्टा नहीं होसकती। भेदव्यपदेशाच्च। ईश्वर और प्रत्यगात्मा ये दोनों विभिन्न ही हैं। मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। मुक्त जीव ब्रह्म के समीपको प्राप्त होकर आनन्दी होते हैं। प्राणभृच्च। प्राणेन्द्रियधारी जीव जगत्का कारण नहीं। विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ। विशेषण जीव और प्रकृति इन दोनोंसे विशेष्यब्रह्म विभिन्न ही है अतः ये दोनों भी जगत्का कारण नहीं हैं। ये पाँचों ब्रह्मसूत्र हैं। इन लोगोंमें दो बड़े दोष हैं। प्रथम जगत्को मिथ्या मानना और दूसरा जीवब्रह्मका ऐक्य मानना। जगत् मिथ्या माननेमें ऐसा ब्रुवाण है कि यह जगत् स्वप्नके तुल्य है, सो यह

उनका कहना मिथ्या है। क्योंकि जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है उसको मिथ्या कहने वालेका कहना ही मिथ्या है। क्योंकि स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कारसे होता है। दृष्ट और श्रुतसंस्कार प्रत्यक्षानुभवके विना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और निर्विकार होनेसे परमात्माको तो स्वप्न ही नहीं होता। जो जीव ब्रह्म हो तो जैसा ब्रह्मने यह अनन्तानन्त ब्रह्मांड किया है वैसे ही एक मक्खी व मच्छरको भी जीव क्यों नहीं कर सकता। इन हेतुओंसे जगत्को मिथ्या और ब्रह्मकी ऐक्यता मानना ही मिथ्या है। जगत्को मिथ्या माननेमें जगत्की उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणोंकी प्राप्ति करनेमें पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होनेसे जगत्के जितने उत्तम कार्य हैं वे सब नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं। जीव और ब्रह्मको एक माननेसे परमार्थ सब नष्ट होजाते हैं क्योंकि परमेश्वरकी आज्ञाका पालन, स्तुति प्रार्थना उपासना करनेकी प्रीति बिलकुल छूटनेसे केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधन, अन्यायका करना, पापमें प्रवृत्ति, इन्द्रियोंसे विषयोंके भोगमें तत्पर होनेसे अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होकर अपने मानवजन्म धारण करनेके जो कर्तव्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चारों फल व्यर्थ होजाते हैं। इस हेतुसे मनुष्योंको उचित है कि सद्विद्यादि उत्तम गुणोंका जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थकी शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थोंका पठनपाठन करते रहना चाहिए क्योंकि यही मनुष्यजन्मका परम लाभ है। श्रीब्रह्माजी के दिन रात्रि और आयुका विचार निरूपण करते हैं। चतुर्युग चतुर्सहस्र गत होने पर श्रीब्रह्मदेवका दिवस होता है। उतनी घड़ी रात्रि होती है दोनों मिल कर एक दिन होता है। उसी दिनमें समस्त लोकोंका उदय रहता है और रात्रि आने पर

ब्रह्मदेवके कार्य जो लोकनिवासी जन्तु उनका लय होजाता है फिर दिन आजाने पर उदय होने लगजाता है अर्थात् प्राणिमात्र की उत्पत्ति होने लगती है। पञ्चदश दिनका पक्ष होता है, पक्षद्वयका मास होता है। मासद्वयकी ऋतु होती है । ऋतुत्रयका अयन होता है। अयनद्वयका संवत्सर होता है । वत्सतरशत ब्रह्ममानसे श्रीब्रह्माजीको आयु है। तावत्काल चतुर्दश भुवनोंकी स्थिति रहती है। विराट् पुरुष जो ब्रह्मा उनके अंशसे जायमान जो अंडस्थितिके अन्त होने पर हिरएयगर्भ (प्रकाशस्वरूप) ब्रह्माजीको ही प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मा ही में प्रलय होता है क्योंकि कार्य स्वकारणमें ही मिलता है। हिरएयगर्भका कारण जो अण्डपरिपालक नारायण पदवाच्य परमात्माको ब्रह्माजी प्राप्त होते हैं फिर संवत्सरशत ब्रह्माके प्रलय ही रहता है । शुभाशुभ वासनाओंसे वासित जीव श्रीब्रह्माजीमें प्रलीन रहता है। प्रलयमें सर्वशून्य रहता है। श्रीब्रह्माजीके स्थिति और प्रलयके पश्चात्। स्थिति प्रलयको सम ही समझना चाहिए। श्रीब्रह्माके कारण स्वरूपको निरूपण करते हैं। श्री ब्रह्माजी की स्थिति और प्रलय जितने काल रहते हैं उतने काल पर्यन्त महाविष्णुपदभूषित जो आदि नारायणके अंशसे जायमान अण्डपरिपालक नारायण पद कथित परमात्माको अहोरात्रि होती है। उनके दिनरूपि रजनी मिलकर एक दिन होता है। इसी तरहसे दिन पक्ष मास संवत्सर आदि भेदसे तदीयमानसे शतकोटि वर्षकाल तक विद्यमान रहते हैं। स्थितिके अन्त आनेपर श्रीनारायणदेव अपने कारणमें लय होते हैं। उनके बाद आवरण सहित ब्रह्मांड विनाशभावको एति होता है। इसका भाव यह है कि जिस ब्रह्मांडमें रहते हैं वह नष्ट होता है। जिस जिस ब्रह्मांडका जो अध्यक्ष है वही ध्वस्त होता है नान्य। नष्ट पश्चात् विष्णु ही स्वरूप होजाता है । उतने ही

कालपर्यन्त प्रलय भी रहता है। प्रलयमें सर्वशून्य ही रहता है। नारायणपद बोधित परमात्माके जितने काल पर्यन्त स्थिति और प्रलय रहता है उतने कालपर्यन्त अण्डपरिपालक महाविष्णु पद-बोधित आदि विराट् पुरुषकी अहोरात्रि होती है। उनके दिन रात्रि मिल करके एक दिन होता है। एवं दिन पक्ष मास संवत्सरादि भेदसे उनके परिमाणसे शतकोटि संवत्सर कालपर्यन्त स्थिति रहती है। स्थितिके अन्तमें अर्थात् प्रलय होजाने पर मायोपाधिक नारायणके अंशसे (इच्छासे) जायमान जो आदि विराट् पुरुष सो मायोपाधिक नारायणको अभ्येति अर्थात् तत्-स्वरूप होगया। उस विराट् पुरुषकी जितने काल स्थिति रहती है उतने काल प्रलय भी रहता है। प्रलयमें सर्व्वशून्य रहता है। विराट् पुरुषकी जितने काल स्थिति और प्रलय रहता है उतने कालपर्यन्त मायोपाधिक नारायणका एक दिन होता है, उतनी बड़ी रात्रि भी होती है दोनों मिल करके एक दिन होता है। एवं दिन पक्ष मास संवत्सरादि भेदसे तदीयमानसे शतकोटि वर्षतक स्थिति रहती है। मूलाविद्या अण्डपरिपालक आदि नारायणके अंशसे होने वाले मायोपाधिक नारायणकी जितने काल स्थिति और प्रलय रहता है उतने कालपर्यन्त मूलाविद्या अण्ड-परिपालक आदि नारायणका एक दिन होता है, उतनी बड़ी रात्रि है, दोनों मिलकर एक दिन होता है। एवं दिन पक्ष मास संवत्सरादि भेदसे उनके परिमाणसे शतकोटि संवत्सरकाल तक उनकी स्थिति रहती है। स्थितिका अन्त आनेपर त्रिपाद विभूति नारायणकी इच्छासे निमेषो जायते अर्थात् शयनकी इच्छा होती है। उतने ही काल तक शयन ही में रहते हैं। यही चिन्मयेऽचि-न्महाविष्णुपदवाच्य श्रीराम प्रभुका ही नाम मूलाविद्या। अण्ड-परिपालक आदि नारायण कहा जाता है। यही निखिलावतारोंका

कन्दभूत है, यही अवतारी होते हुए अवताररूपसे आददाम करते हैं। जब शयन करके उत्थापन होजाते हैं तब फिर वहींसे ही इनसे मायोपाधिक नारायण होते हैं। इनसे पुनः आदि नारायण पदबोधित महाविष्णु होते हैं। पुनः इनसे नारायण पदवाचक परमात्मा होते हैं। फिर इनसे हिरण्यगर्भपदबोधित श्री ब्रह्माजी होते हैं। इतना और भी समझना चाहिए कि इन सबके सह ही आवरण सह ब्रह्माण्डाविर्भाव होता है। इतना और भी जानना चाहिए कि इन चारोंको कर्मतन्त्र नहीं होता है किन्तु मूलाविद्या अण्डपरिपालक आदि नारायण त्रिपाद विभूतिकी अध्यन्तैच्छिक है। फिर सृष्टि क्यों होती है ? जीवान्तःकरणमें रही हुई जो वासना है उसके भोगानेके लिये होती है। पूर्वमें कह चुका हूँ कि वासनावासित विशिष्ट ही हिरण्यगर्भमें लीन होजाता है पुनः ब्रह्माजीसे क्रमशः कार्य चलता है। भगवन् कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः। तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च। मोक्षसाधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायः। कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। का वा सायुज्यमुक्तिः। श्रीब्रह्माजी श्रीमहाविष्णुजीसे पूछते हुए कि हे भगवन् इन सब प्रश्नोंका उत्तर कृपया प्रदान कीजिये। श्रीप्रभु उवाच। कुत्सित अनन्त जन्माभ्याससे अत्यन्तोत्कृष्ट विविध विचित्र अनन्त दुष्कर्म वासनारूप जालमें पड़कर देह और आत्मसम्बन्धी ज्ञान नहीं होता है। अतएव देहात्मभ्रम अर्थात् देह ही आत्मा है ऐसा विवेक होजाने पर देह ही को दास होजाता है। मैं अज्ञ हूँ वा अल्पज्ञ हूँ, मैं जीव हूँ, मैं अत्यन्त दुःखाकार हूँ, मैं अनादि संसारी हूँ ऐसे भ्रम वासनाबलसे संसार ही में प्रवृत्ति होती है और उसके निवृत्यर्थ कदापि नहीं जानता है, विषयवासनामें ही लगा रहता

है। इसी लिये विविध विचित्र स्थूलदेह सूक्ष्मदेह उत्कृष्ट निकृष्ट देहको ग्रहण करता है। उन उन देहविहित विविध विचित्र अनेक शुभाशुभ प्रारब्धकर्मों को अनुभव करके फिर तत्तत्कर्मफल-वासनाजालमें वासितान्तःकरणोंकी पुनः पुनः उन उन कर्मफल-रूप विषयमें स्वतःप्रवृत्ति होजाती है, और संसार निवृत्तिमार्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः अनिष्ट वस्तुओंमें इष्ट बुद्धि होने लगती है। इष्टमें अनिष्ट होने लगता है क्योंकि अनादि संसार विपरीत भ्रमसे। अतएव सम्पूर्ण जीवोंकी इष्ट विषयमें बुद्धि होती और सुख बुद्धि दुःख बुद्धि होने लगती है। अबाधित ब्रह्म-सुख यथार्थ विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। इसी लिये ब्रह्मस्वरूप ज्ञानाभाव होता है। प्रश्न—वह क्यों नहीं होता ? अज्ञान प्राबल्य से, अज्ञान बढ़नेसे बन्धप्रद वा मोक्षप्रद इन दोनों विचारोंका प्रायः अभाव ही होजाता है। प्राबल्याज्ञान क्यों होता है ? भक्ति ज्ञान वैराग्याभाव होनेसे। उसका क्यों अभाव होता है ? अत्यन्त अन्तः-करण मलिन विशेष होनेसे। इस लिये संसारतरणोपाय क्या है ? देशिक (आचार्य) उसके प्रति कथन करते हैं। सकल वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्त रहस्योंके अभ्यासोंसे अत्यन्त बढ़े हुए सुकृत-परिपाक वशसे भगवद्भक्त जनोंको सङ्गकी इच्छा होती है। उनके द्वारा विधि वा निषेधरूप ज्ञान होता है। विधि वा निषेधको करने से अन्तःकरण अतिनिर्मल होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यह स्वकर्तव्य और यह न कर्तव्य यह दृढ़ ज्ञान होने लगता है। ऐसे ज्ञान होने पर सदाचारप्रवृत्तिमें लग जाता है। सदाचारसे अखिल दुरित (पाप) क्षय होने लगता है। दुरित क्षय होनेसे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होजाता है। अन्तःकरण शुद्ध होने परही सद्गुरुकी खोज करनेमें तत्पर होजाता है। सद्गुरुके कृपाकटाक्षसे सर्व मनोरथ पूर्ण होने लगते हैं और बन्धप्रद कर्म

नष्ट होने लगते हैं। श्रेय करनेमें जो विघ्न आते हैं वह भी हटने लगते हैं। विना बुलाये हुए श्रेय कार्य आजाते हैं। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते। अर्थ—जैसे जात्यन्धके रूप ज्ञान नहीं होता वैसे ही गुरुके उपदेश विना असंख्यात जन्म तक श्रीभगवत्तत्त्वसम्बन्धी ज्ञान नहीं मिलता। इसी हेतुसे भगवद्भक्त गुरुओंके लेशविशेष अचिर ही तत्त्वज्ञान होजाता है। जब सद्गुरु कटाक्ष होता है तब ही भगवत्कथा श्रवण ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होजाती है। ऐसे श्रद्धा होनेसे ही हृदयस्थित अनादि दुर्वासनारूप ग्रन्थिका विनाश होजाता है और हृदयस्थित समस्त काम भी नाश होजाते हैं। तब पुण्डरीक कर्णिकामें परमात्माविर्भाव होता है, उससे दृढ़तर वैष्णवीभक्तिका उदय होता है। उससे वैराग्योदय होता है। वैराग्यसे बुद्धि विज्ञानाविर्भाव होजाता है। अभ्याससे परिपक्व ज्ञान होता है। पक्वविज्ञानसे जीवन्मुक्त अर्थात् अब जन्म नहीं लेना पड़ेगा, तब उससे शुभाशुभ कर्म और वासना नश्यति। तब दृढ़तर शुद्ध सात्विक वासना रूपसे अतिशय भक्ति होती है। भक्त्यतिशय होनेसे श्रीराम नारायण सर्वमय और सर्वावस्थामें प्रकाशित होने लगते हैं, इसी भावसे उपासक सर्वत्र विचरता है। अस्य देहत्यागेच्छा यदा भवति तदा वैकुण्ठपार्षदाः सर्वे समायान्ति। जब उपासककी देहत्यागेच्छा होती है तब वैकुण्ठनिवासी नित्यसूरि लेनेको आते हैं। फिर नित्यधाम साकेत लोकमें पहुँचाते हैं। वह त्रिपादविभूति कैसी है। ब्रह्मानन्दमय, अनन्तप्रकारमय, अनन्तप्रासादमय, तोरणमय, विमानमय, उपवनमय, अवलिमय इन विशेषणों से प्रासाद शिखर ज्वल रहा है। फिर धामके मध्यभागमें श्रीराम

प्रभु विराजते हैं वह कीदृश हैं निरुपम, नित्यनिरवद्य, निरतिशय, निरवधिक और ब्रह्मानन्द अचल विराजते हैं। धामके अन्तरालमें चिन्मय वेदिका बनी है। आनन्दवेदिका आनन्दघनविभूषित है, परम मङ्गल आसन है। बहुत संक्षेपमें निरूपण किया है। चतुर्दश भुवननिरूपणम्। अण्डं नाम कपित्थ फलके सदृश पञ्चीकृत पञ्चभूतका आरब्ध (बना) है और प्राकृत द्रव्य है। तद्यथा—पद्मपत्राकार भूमण्डल है, कर्णिकाका आकार मेरुपर्वत है, मेरुके दक्षिणभागमें भारत किंपुरुषहरिवर्ष इस नामसे विद्यमान है। मेरुके उत्तरभागमें रम्यक हिरण्यक और कुरुवर्ष इस नामसे हैं। मेरुके आगे भागमें भद्राश्व नामका देश है। मेरुके पृष्ठभागमें केतुमाल नामका देश है। मेरुके मध्यमें इलावृत्त नामसे प्रसिद्ध है। यही नव नामसे प्रथित है, इसीको नवखण्ड कहा जाता है। जंबूद्वीप लक्ष योजनका विस्तीर्ण है, समपरिमाणसे लवणसागरसे आवृत है अर्थात् वलयाकार (घिरा) है। इस महार्णवसे द्विगुण प्लक्षद्वीप है, इक्षुसमुद्रसे वेष्टित (घिरा) है। इक्षुमहार्णवसे द्विगुण शाल्मलिद्वीप नामसे है सो सुरासमुद्रसे वेष्टित है। सुरार्णवसे द्विगुण कुशद्वीप नाम देश है सो सर्पि (घृत) सागरसे विवेष्टित है। सर्पिसमुद्रसे द्विगुण क्रौञ्चद्वीप नाम प्रसिद्ध है सोऽपि दध्यर्णवसे वेष्टित है। दधिसमुद्रसे द्विगुण शाकद्वीप संज्ञा प्रथित है, वह क्षीरार्णवसे घिरा है। शाकद्वीपमें दो देश और जानना मानसोत्तरपर्वत और पुष्करद्वीप इन नामसे। शाकद्वीप शुद्ध जलार्णवसे वेष्टित है और सप्तद्वीपात्मक भूकी द्विगुण काञ्चनभूमिसे आवृत है। काञ्चनभूमि लोकालोक पर्वतोंसे आवृत है, महान्धकारसे पर्वत वेष्टित है, महान्धकार गर्भोदकसे घिरा हुआ है। भूमिके नीचे भागका निरूपण किया जाता है। भूमिके अधोभागमें अतल वितल रसातल तलातल

महातल सुतल पाताल इन भेदोंसे सात लोक हैं। अधोभागमें नरक है, पापकर्म पापानुभव होता है, रौरवादि इन भेदोंसे एकविंशति २१ हैं। उसके नीचे भागमें तम (अन्धकार) उसके अधः गर्तोदक है। अब भूमण्डलके ऊपर भागका विचार किया जाता है। भूमिसे ऊपर एक लक्ष योजन पर सूर्यमण्डल है, उसी को भुवर्लोक कहा जाता है। इससे द्विगुण ऊपर चन्द्रमण्डल है इनसे ऊपर भागमें नक्षत्र बुध शुक्र अंगार (मङ्गल) बृहस्पति शनि सप्तऋषि मण्डल है, तदुपरि ध्रुवमण्डल है। सूर्यमण्डल-मारभ्य ध्रुवलोकपर्यन्त स्वर्लोक कहे जाते हैं। स्वर्गलोक चतु-र्लक्ष योजन तक है इसके बाद कोटियोजन उच्छ्र (ऊँचाई) तक महर्लोक नामसे प्रथित है। इनसे द्विगुण जनलोक नाम प्रसिद्ध है। इनसे चतुर्गुणाधिक तपलोक संज्ञा है। इससे द्वादश कोटि ऊँचाई सत्यलोक वाचक है। उसके बाद तम है, ततो गर्भोदक है। इसी लीलाविभूतिका नाम अण्डकटाह कहा जाता है, एवं परितः और ऊर्ध्वप्रमाणसे पंचाशत कोटि ५० योजन भूमि कही जाती है। इतनेमें सूर्यका गमनागमन होता है। शतकोटि योजन विस्तीर्ण बादका भेदसे है और शतकोटि योजन ऊँचाई भेदसे है। पृथिवीसे दशगुणाधिक जलतत्त्व, जलसे दशगुणाधिक अग्नि-तत्त्व, इससे दशगुण वायुतत्त्व, उससे दशगुण आकाशतत्त्व, इससे दशगुण अहंकारतत्त्व, ततः महत्तत्त्व। अस्मात् दशगुणा-धिक प्रकृतितत्त्व—ये सप्तावरण कहे जाते हैं। कालनिरूपण। अचिद्विशेषः कालः अर्थात् प्रकृतिके ही अन्तर्गत विशेषरूपसे काल ऐसा नाम है। गुणत्रयरहित जड़विशेष काल है। वह नित्यविभु भूत भविष्यत् और वर्त्तमान इन भेदोंसे और युगपत् क्षिप्र चिरादि इन व्यपदेशोंका हेतु है। निमेष काष्ठा मुहूर्त दिवस पक्ष मास ऋतु वर्ष इन व्यपदेशोंसे भी कहा जाता है। मनुष्यका एक मास

होता है तब पितरोंका एक दिन होता है । उनका अमावास्या मध्याह्नकाल है। मनुष्यका एक वर्ष बीतने पर देवोंका दिन होता है। उनका उत्तरायण अहः होता है और दक्षिणायन रात्रि होती है। इस विध देवपरिमाणोंसे द्वादशवर्षसहस्रसंख्या बीतने पर चतुर्युग गत होजाता है। चतुर्युगोंमें सत्युग चतुःसहस्र वर्षका है, उनमें पूर्णधर्म है । त्रिसहस्रवर्ष परिमाण वाला त्रिपादधर्म-विशिष्ट त्रेतायुग है । द्विसहस्रवर्ष परिमित द्विपादधर्मविशिष्ट द्वापरयुग है। एकसहस्रवर्ष संख्या वाला एकपाद धर्मविशिष्ट कलियुगम् । चतुर्युग सहस्र बीतने पर श्रीब्रह्माका दिवस प्रमाण है एवं रात्रिरपि। श्रीब्रह्मदेवके एक दिनमें चतुर्दश मनु राज करते हैं। इतना ही राज्य इन्द्र भी करता है तथा सप्त ऋषिको भी जानना चाहिए । एकैक मनु एकसप्तति ७१ चतुर्युग परिमाण काल अर्थात् चारों युग मिल कर एक चौकड़ी कही जाती है । एकहत्तर ७१ चौकड़ी राज्य एक मनु एक इन्द्र एक सप्त ऋषि करते हैं। सप्त ऋषि कहनेका भाव यह है कि एक ही कालमें ये सातों ही रहते हैं अतः। एतत् सर्व कालके ही अधीन है। इसी तरहसे नित्य नैमित्तिक प्राकृत इन भेदोंसे प्रलय कालाधीन ही है। काल स्वकार्यप्रति स्वयं मुख्य कारण है। अखण्ड काल नित्य है उसका कार्य अनित्य ही है । एवंभूत काल ईश्वरका क्रीडा-परिकर होता अर्थात् ईश्वर लीलाका साधन वा सहायक है। लीला विभूतिमें ईश्वर भी कालाधीन ही कार्य करते हैं। नित्यविभूति में काल विद्यमान है तो भी उसका स्वातन्त्र्याभाव है। कोई कहता है कि काल नहीं है, कोई कहता है कि षडिन्द्रियवेद्य हैं। इति काल-निरूपण। ख्यातिविचार। निष्कलं निष्क्रियं । इस वेदवचनमें ब्रह्मविषैं गुण और शरीरादिकोंका निषेध किया है। आप तो परमात्मामें शरीरशरीरीभाव और अनन्त गुणोंका निरूपण करते

हो अतः इस वेदवाक्यसे विरोध पड़ेगा। उत्तर—यह वचन जो निषेध करता है सो प्रकृतिके हेय गुणोंका निषेध है, किन्तु सर्वज्ञ सर्वावत् सर्वेश्वरत्वादि गुणोंका निषेध नहीं। सत्त्वादयो न संतीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। सत् रजस् तमस् ये प्राकृत गुण ईश्वरमें नहीं किन्तु नित्य दिव्य गुणोंका आकर है। सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। प्रश्न—प्रलयकालमें यह जगत् सजातीय विजातीय और स्वगत इन तीन भेदोंसे रहित सन्मात्र ही होता हुआ इस वेदवचनसे केवल अद्वैत सिद्ध होता है। उत्तर—इसका यह अर्थ नहीं है किन्तु ऐसा अर्थ है कि यह जगत् प्रलयकालमें सत् ही अर्थात् सदात्मक ही होता हुआ। एकं एव अर्थात् अन्याधारसे शून्य, अद्वितीयं नाम दूसरे निमित्त से रहित होता हुआ। यह वाक्य तो चिदचिद्विशेषणविशिष्ट ही को प्रतिपादित करता है, केवलाद्वैतको ही नहीं। क्योंकि इस वाक्यमें जो इदं शब्द है सो इसका अर्थ केवल जगत् ऐसा नहीं किन्तु स्थूलावस्था वाला जगत् करके विशिष्ट ब्रह्म है, ऐसा अर्थ है। सत्शब्दका भी केवल ब्रह्म ऐसा अर्थ नहीं किन्तु सूक्ष्मावस्था वाले जगत् करके युक्त ब्रह्म ऐसा अर्थ है। क्योंकि तत्तेज ऐक्षत। वह तेज इच्छा करता हुआ इस वाक्यमें भी तेजविशिष्ट ब्रह्मने इच्छा की है, किन्तु तेजने इच्छा नहीं की। हे पूर्ववादी आपने इस श्रुतिका अर्थ सजातीय जीव विजातीय माया और स्वगत आनन्दादि गुण इन तीन भेदोंसे रहित सन्मात्र ही ब्रह्म प्रलयकालमें होता हुआ आपने ऐसा अर्थ किया है। तहाँ मैं पूछता हूँ कि इन तीन भेदोंसे रहित ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्त्यादि व्यवहार किस विधसे होगा पूर्वोत्तर—मायाको अंगीकार करके जगत का व्यवहार होवेगा। राधान्ती पूछते हैं कि वह निर्विशेष ब्रह्म

वह जानता है कि यह माया है और यह माया ही जगत्को उत्पन्न करती है ऐसा जानता है कि नहीं। यदि कहोगे कि नहीं जानता तब तो ब्रह्ममें अज्ञत्वापत्ति आगई और यः सर्वज्ञः सर्ववित्। इस वाक्यसे तो यही जाना जाता है कि ब्रह्मज्ञानी ही है। और आप ऐसे कहो कि मायाको ब्रह्म सम्यग् जानता है तब तो वह ब्रह्म सविशेष ज्ञातापनेका प्राप्तिभाव उस करके निर्विशेषका भंग होने लगेगा। पूर्वोत्तर—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरादि ये गुण तो ईश्वरके हैं, निर्विशेषके ये गुण नहीं। और ईश्वरमें भी मायाकी उपाधि करके सर्वज्ञत्वादि गुण हैं किन्तु स्वाभाविकत्व नहीं, क्योंकि श्रुतिमें मायाविविष्ट ईश्वरमें ही सर्वेश्वर सर्वज्ञत्वादि गुण सिद्ध होते हैं, किन्तु निर्विशेषमें सर्वत्वादि गुण नहीं। राधान्ती कथयति। न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः। इन प्रमाणों द्वारा सर्वज्ञत्वेश्वरसे भिन्न गुण दरिद्री निर्विशेष ब्रह्म आपने कहाँसे पाया। और ज्ञान जो है सो तो गुण ही है। जो गुण होता है वह द्रव्याश्रित ही होता और द्रव्याश्रय होता है। तब तो ज्ञान गुणाश्रय कौनसा है उसको बताना चाहिए, क्योंकि लोक और वेदमें अनाश्रितको किसीने भी नहीं देखा। जब ब्रह्म निर्विशेष है तब ज्ञानगुणाश्रय कौन है उसको दिखाना आवश्यक ही है। पूर्वोत्तर—सत् और असत्से माया विलक्षण अर्थात् माया सत् और असत् ये दोनों नहीं किन्तु सत् और असत्से भिन्न अनिर्वचनीय माया है। इस लिये पूर्वोक्त दोषका प्रसंग भी नहीं आवेगा। प्रतिवादी उवाच। अजामेकां। गौरनाद्यन्तवती। इस श्रुतिवचनसे तो मायाका निर्वचनीयत्व कहा है और लोकमें भी सर्व पदार्थोंकी सत्त्व करके अथवा असत्त्व करके प्रतीति होती है। सदसत्से

विलक्षण किसीका भी प्रत्यक्ष नहीं देखा है। मायावयुनं ज्ञानं मायया सततं वेत्ति। इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाणोंसे किसी ठिकाने माया शब्दको ज्ञानका वाचक भी कहा है और माया करके निरंतर जाना जाता है ऐसे ही श्रुतियोंमें मायाशब्द करके जाननेको कहा है इसी लिये मायाशब्द ज्ञानका पर्यायशब्द है। जो माया को मिथ्या कहोगे तो उस मिथ्यामाया करके यथातथ्य ज्ञान भी कैसे होगा। पूर्वोत्तर–नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। इन वेदवचनसे सत् और असत्से अनिर्वचनीय अज्ञानकी प्रतीति होती है। क्योंकि इस वाक्यमें कहा है कि न तो असत् होता हुआ और न सत् होता हुआ किन्तु उस कालमें तमः ही होता हुआ। इन श्रुतियोंसे सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय तमः ही कहा है। उत्तरपक्ष–हे पूर्वोक्तवादिन् इस श्रुतिमें सत् शब्दनिर्देशसे चेतनात्मा और असत्शब्दके प्रयोगव्यपदेशसे अचेतन इन दोनोंको ही ईरित किया है। किन्तु अनृतादिका नदन नहीं किया, क्योंकि जो सत् और असत् इन दोनों शब्दोंको चेतन और अचेतनका विषय नहीं मानिये तो तमः आसीत्। इस वेदवचनके साथ विरोध पड़ेगा। क्योंकि तमःशब्द सूक्ष्मावस्था वाली प्रकृतिका वाचक है और वह प्रकृति परमात्माका शरीर है। यस्य तमः शरीरम्। ईश्वरके तमःशरीर है। इस हेतुसे सत् और असत्से भिन्न अनिर्वचनीय ऐसा नाम माया का लोक और वेदमें कहीं भी देखनेमें अथवा सुननेमें नहीं आता। अनिर्वचनीय माया है ऐसा नवीन नाम मायाका आपने रखा है, अतः आपके मतमें अनिर्वचनीय ख्याति मानी है, परन्तु वेदादि गमकसे शून्य ही है। हमारे मतमें सत्ख्याति अथवा विवेकख्याति मानी है। तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां

व्याक्रियेे। इस श्रुतिमें कार्यकारणकी एकता सिद्ध की गई है। प्रलयकालमें यह स्थूल चेतन और स्थूल अचेतन इन दोनों करके सहित कार्य जो नामरूप विकारसे रहित होता हुआ अर्थात् प्रलयकालमें सूक्ष्म जड़ और सूक्ष्म चेतन करके विशिष्ट परमात्मा होता हुआ उसे ही कारण कहते हैं। और वही जो कारण वस्तु ब्रह्म है वह स्थूल चेतन और स्थूलाचेतन इन दोनोंके सहित नामरूपसे आपन्न होता हुआ उसको ही कार्य कहते हैं। अत एव परमात्मा ही तो कार्य और कारण भी हैं। इसी अर्थको स्मृति भी प्रकाश करती है— स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता। ब्रह्म ही तो उत्पन्न होता है और वही उत्पत्तिको करता है। इसी हेतुसे कार्य और कारण की ऐक्यता वेदान्त में प्रतिपादन की है। इसी लिये इस सृष्टिका बीज सूक्ष्मावस्था ही है। क्योंकि सब जीव अपने कर्मोंके संस्काररूप सूक्ष्मवासनाओंसे सहित अनादि अविद्याके वशमें नामरूपसे रहित प्रलयकालमें रहते हैं। फिर वही जीव सृष्टिकालमें पूर्ववासनाओंसे उत्पन्न होते हैं। ये तीनों अनादि हैं घटीयन्त्रकी माफिक पूर्ववादी कहते हैं कि नाश होता है। वादी उवाच। ब्रह्म तो अद्वैत और स्वयंप्रकाश ही है परन्तु उस ब्रह्ममें जो जगत्‌की उत्पत्ति प्रतीत होती है वह अध्यारोपवादन्यायसे जगदुत्पत्तिकी सम्भावना होसकती है। रज्जौ सर्पाध्यारोपवत्। अर्थात् वस्तुमें अवस्तु के आरोपको अध्यारोप कहते हैं। वस्तु जो सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्ममें मिथ्या देवादिक प्रपञ्चरूप अवस्तुका आरोप है जैसे रज्जुमें सर्पका आरोप है। तत्त्ववादी उवाच। इस आपके दृष्टान्तसे भी निर्वि-शेष ब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती। क्योंकि दृष्टान्त दार्ष्टान्तमें वैरूप्य की प्राप्ति होनेसे किस प्रकारसे वैरूप्य प्राप्ति है उसको सुनो।

जैसे रज्जु अधिष्ठानमें अज्ञानसे कल्पित सर्प है वह अज्ञानमूल भ्रमसे भासता है वह अज्ञानद्रष्टा पुरुषमें होता वही फिर सर्प के अपवाद रूपसे उपदेश करने वाला आप्तपुरुष होना चाहिए। जैसे यहाँ दृष्टान्तमें रज्जु सर्प और रज्जु सर्पको देखने वाला तथा यह रज्जु है सरीसृप नहीं ऐसा उपदेश करने वाला पुरुष ये चार हैं। जैसे दृष्टान्तमें चार हैं नहीं क्योंकि ब्रह्ममें अज्ञान करके जगत् प्रतीत होता है। परन्तु वह जगत्को देखने वाला और उपदेश करने वाला ये दो नहीं दीखते हैं। यदि ऐसा कहें कि ब्रह्म में जगत्को जीव देखता है वह बने नहीं क्योंकि ब्रह्मसे विभिन्न दूसरा कोई तो सत्य है नहीं तब जगत् किसको प्रत्यय होता है। यदि कहें कि जीवको जगत् भासता है तो जीव जगत् ये सब रज्जुमें सर्पकी नाई ब्रह्ममें कल्पित हैं। इस लिये आपका दृष्टान्त दार्ष्टान्त वैरूप्य दोष वाला है सो नहीं लग सकता है इति। दृष्टान्त और सिद्धान्तमें सर्व प्रकारसे समपना कहीं भी देखनेमें नहीं आता है किन्तु दृष्टान्त एकदेशी होता है सर्वदेशी नहीं जैसे सिंहो देवदत्तः यह एकदेशी दृष्टान्त है। सिद्धान्ती कथयति। वह एकदेशी कौनसा है वह कहना चाहिए। पूर्ववादी उवाच। जैसे रज्जुमें सर्पादि कल्पित हैं वैसे ही ब्रह्ममें भी देवादि प्रपञ्च अनिर्वचनीय अज्ञान द्वारा कल्पित है, यही एकदेश है। वहाँ यह सरीसृप नहीं यह रज्जु ही है ऐसे अपवादपूर्वक सर्पके मिथ्यापना और रज्जुस्वरूप अधिष्ठान का सत्यपना होता है। वैसे ब्रह्ममें भी अज्ञानकल्पित प्रपञ्चका मिथ्यापना और अधि-ष्ठानरूप ब्रह्मका ही सत्यपना प्रतिपादन किया है। प्रतिवादी उवाच। वैसा भी यहाँ पर नहीं बने क्योंकि अज्ञानकल्पित प्रपञ्च है ऐसा आपने कहा। वह अज्ञान जीवमें रहता है किंवा ब्रह्ममें रहता है, ये दो विकल्प हैं प्रथम जीवमें अज्ञानका रहना

बने नहीं क्योंकि जीवके अज्ञानकल्पित होने से प्रपञ्चके मध्यमें पड़ा हुआ होनेसे और ब्रह्ममें भी अज्ञानका रहना नहीं बने, क्योंकि ब्रह्मको ज्ञानस्वरूप स्वप्रकाशपने करके अज्ञानका विरोधी होनेसे। और आपने भी अज्ञानको ज्ञानबाध्य ही माना है। पूर्ववादी उवाच। अज्ञानकी दो शक्तियाँ हैं एक तो आवरणशक्ति और दूसरी विक्षेपशक्ति। आवरणशक्ति ब्रह्मस्वरूपको ढकती है और विक्षेपशक्ति ब्रह्ममें देवादि प्रपञ्चबुद्धिको उत्पन्न करती है। सिद्धान्तो कथयति। वाह जी वाह आपको विद्धान्पने की कुशलता है। नित्य स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म करके तो अज्ञानकी निवृत्ति होती है। उलटा अज्ञानने ही ब्रह्मको ढक लिया जैसे सूर्यसे अंधकार निवृत्त होता है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपसे अज्ञान निवृत्त होता है। सूर्यसे मेघ उत्पन्न होता है, मेघ तमरूप है वह सूर्यको कैसे आच्छादन करता है ? वैसे ही अज्ञान भी ब्रह्मको ढक लेगा। सिद्धान्ती उवाच। मेघ जो है सो सूर्यसे भिन्न दूसरे पुरुषोंकी दृष्टिको ही आवृत्त करता है परन्तु सूर्यस्वरूपको नहीं आच्छादित करता है। क्योंकि जब मेघमाला बर्षती है तब समस्त पृथिवीतलमें वृष्टि नहीं होती किन्तु सूर्यके आस पास पाँच वा दश वा पचास कोशमें ही वर्षता है अतः यह पूर्वोक्त दृष्टान्त भी समीचीन नहीं है। पूर्ववादी गदयति। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब अर्थात् अपने मुखका आभास पड़ता है उस आभासके योगसे ब्रह्ममें सृष्टि करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और वेदमें भी कहा है कि तदैक्षत बहु स्याम्। वह ब्रह्म इच्छा करता हुआ कि मैं बहुत प्रकारसे होजाऊँ। सिद्धान्ती जगाद। इस वाक्यमें तो ऐसा आभासका कथन है नहीं और क्या आप अपने मनमानी ही अर्थरचना करलेते हैं। हे पूर्ववादिन् आपने मायामें जो ब्रह्मका आभास स्वीकृत किया है सो अत्यन्त अलीक है। क्योंकि रूप-

त्वावच्छिन्नरहित चिन्मात्र ब्रह्मका आभासयोग नहीं बन सकता है, क्योंकि अरूपी पदार्थका आभास कहीं भी देखनेमें नहीं आता है। वादी जगाद। रूपरहित आकाशका आभास जलमें दीखने में आता है। तत्त्ववादी कथयति स्म। एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। इस श्रुतिमें परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति कही है अतः आकाश रूप वाला ही सिद्ध होता है। क्योंकि रूपविशिष्ट ही का जन्म होता है और रूपरहितका जन्मादि नहीं होता क्योंकि आकाशका नीलरूप सब किसीको प्रत्यय होता है और आकाश का जन्म भी सर्वेश्वरसे श्रुति सिद्ध कर रही है, अतः आकाश रूपवान् ही है, रूपरहित नहीं। और दूसरा भी एक दूषण है कि परिच्छिन्न वस्तुका ही आभास होता है और जो ब्रह्मका आभास अङ्गीकार करेंगे तो देश काल वस्तु इन तीन परिच्छेदोंसे रहित ब्रह्मको परिच्छिन्नपनेकी प्राप्ति होने लगेगी। उस करके आपके राधान्तका नाश होजायगा और सदसत्से विलक्षण अनिर्वचनीय अज्ञानको भवदुक्तिका अत्यन्त तुच्छ ही है इस वास्ते माया नित्या है। दुराग्रह करके तुच्छ ऐसी अनिर्वचनीय ख्यातिकी कल्पना करनेसे क्या फल होनेका है। पूर्ववादी कथयति। शुक्ति रजतमें प्रवृत्ति और निवृत्ति किस प्रकारसे होगी? प्रतिवादी वदति। शुक्तिका विशेषरूप जो चाकचिक्य अथवा त्रिकोण है, इसी लिये अज्ञानसे रजतबुद्धि जान कर प्रवृत्ति होती है। और उस त्रिकोणात्मक सीपका जब ज्ञान होजाता है तब निवृत्ति हो जाती है। यही दोषरहित अचलवाद और अपनी मायामें ब्रह्म का आभास कहिये छाया मानी वह आप इस वेदवाक्यमें कलंक लगाते हैं। अलोहितमच्छायम्। इस श्रुतिने तो ब्रह्ममें रक्त पीत श्याम श्वेत नीलादिक रंगोंका और छायाका निषेध ही किया है और आप कहते हैं कि मायामें ब्रह्मका आभास पड़ा है यह

कथन ही महद्दोषयुक्त है। सत्ख्याति उसे कहा जाता है कि जो शुक्तिमें रजत है परन्तु स्वल्प है अतः अव्यवहारिक है। शुक्तिनिष्ठ जो चाकचिक्य है वही रजतांश है। रज्जुमें जो सर्प-भान होता है वह आकारत्वेन होता है। माया अनित्या नहीं और अनिर्वचनीय भी नहीं क्योंकि श्रुतियोंमें कहा है कि माया अनादि है एक है और निरन्तर विकारजननी है। अत एव मायाका नित्यपना ही अंगीकार करना चाहिए ऐसी ही सत्ख्याति वेदके प्रमाणसे सिद्ध है। वादी उवाच। शुक्ति रजतादिमें अनि-र्वचनीय अज्ञान प्रतीत होता है। प्रतिवादी उवाच। ऐसे कथन से पुरुषप्रवृत्ति नहीं क्योंकि पुरुषकी जो प्रवृत्ति होती है वह रजतबुद्धि करके होती है किन्तु अनिर्वचनीयसे नहीं होती है। और यदि ऐसे कहें कि शुक्ति रजतरूपसे प्रतीत होती है तब तो आप अन्यथा ख्यातिमें चले गये क्योंकि शुक्तिको अन्यथा कहिये अन्य प्रकार रजत करके भान होना और कथन करना इसका नाम अन्यथाख्याति कहा जाता है। वह न्यायशास्त्र और वैशे-षिकशास्त्रके मतमें अन्यथाख्याति मानी है। अतः आप अन्यके मतमें चले गये। हे पूर्ववादिन् पञ्चीकरणकी प्रक्रियासे शुक्तिमें रजतांशके विद्यमान होनेसे ही सत्ख्यातिको अंगीकार करना योग्य ही है। दिग्भ्रम होना और श्वेतमें पीत देखपड़ना यह सब सत्यत्वेन होता है और श्वेतमें पीत ज्ञान क्यों होता है कि स्वनेत्रनिष्ठ, जो पीलिया रोग वही निःसृत होकर श्वेतमें लगजाने से पीत ज्ञान होने लगता है, इसी तरहसे सर्वत्र ऊह्य कर लेना। और पञ्चीकरण वा त्रिवृत्तकरणसे भी सबमें सबका सम्मेलन भी है अतः सत्य-त्वेन भान होना सत्य है। सर्वं हि विज्ञानमथो यथार्थकम् श्रुति-स्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः। यह आप्तोक्ति भी सङ्गत होगई।

अथ पञ्चदेवोपासना का दिग्दर्शनमात्र निर्देश करते हैं। भूमण्डलोंमें यह मुख्यत्वेन पञ्चदेवोपासना अनादिप्रवाहसे चली आती है और साम्प्रत भी विद्यमान है। वे यह हैं कि गणपति सूर्य शक्ति शिव और नारायण ये पाँच उपास्यदेव ! हैं इन्हीं पञ्च-देवोंके उपासकका नाम गाणपत्य सौर शाक्त शैव और वैष्णव इन भेदोंसे लोकप्रसिद्ध है। परन्तु इन पाँच देवोंको वेद और वेदांग स्वतन्त्रत्वेन प्रतिपादन करता है। और इन पञ्च देवोंमें चतुर्वर्गफलदातृत्व शक्ति भी ईरित है, अतः पञ्चदेवोपासनाका व्याचक्षिर है। पूर्वोक्त ख्यातिके अनुसार शंका यह होती है कि जब ये पञ्च स्वतन्त्र हैं और चतुर्वर्गफलदातृत्वादि भी स्वतन्त्र है तब तो अनेकानेक दोषसंघातकी उपस्थिति होगई क्योंकि पञ्च ब्रह्म होगया और पञ्च स्वतंत्र भी है तथा पञ्च मोक्षदाता भी है ऐसे कथनोंसे निस्सीम विप्रपत्तियोंकी उपस्थिति होगई। प्रथम दोष तो यह है कि पञ्चब्रह्म स्वीकार होना। दूसरा दोष स्वतंत्र-त्वेन फलादिदाता। तृतीय दोष यह है कि पञ्चोंका नित्य होना और पञ्च देवोंमें उत्पत्यादि करना। तथा पञ्चम दोष यह है कि वे पञ्च देव परस्परमें विवादास्पद होजायँगे। तब अन्योन्यमें युद्ध करने पर उन पाँचोंमें से एकका ही जय शब्दसे विधान होगा अतएव वेद भी इसी अर्थको प्रतिपादन करता है एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। तदेव विजिज्ञासितव्यम्। तदेवोपासितव्यम्। तदेवाध्ये-यम्। नेह नानास्ति किञ्चन। इत्यादि प्रमाणोंसे यही जाना गया कि एक ही ब्रह्म है। और चारोंमें औपचारिक ब्रह्म शब्द का प्रयोग है, अथवा स्वाभाविक ब्रह्मका ही नाम है अथवा उपा-सनापरक वाक्योंका विधान किया गया है। यदि इन चारोंमें ब्रह्म शब्दका विधान न हो तो जीवोंकी प्रवृत्ति भी न होगी इसी

लिये ब्रह्मशब्दका प्रयोग है, किन्तु मुख्यत्वेन न। और चारोंमें सामान्य फलदातृत्वादि शक्ति है और आशु भी है। मोक्षरूप फलप्राप्तिमें चिरस्थायी फलका विधान है, अतः अनेक जन्माभ्याससे उपलब्ध होता है। गीता—अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। बहूनां जन्मनामन्ते। लोकमें देखा जाता है कि जैसे स्वल्प कार्यके लिये लघु राज्यकर्मचारियोंसे मिला जाता है तद्वत् जानना चाहिए। और इन चारोंमें जो ब्रह्मशब्दपूर्वक उपासना का विधान किया गया है सो राज अमात्यकी तरह समझना चाहिये। अर्थात् जैसे मुख्य राजमन्त्रीमें राजभावसे उपासना करना कोई अनुचित नहीं क्योंकि अमात्य प्रधान राजाका शरीर होता है, ऐसा व्यवहार करने पर कोई दोषापत्ति नहीं है। परन्तु अमात्योपासनासे राजोपासना अधिकतर श्रेष्ठ और फलाधिकप्रदाता है तद्वत् जानना चाहिये। यदि कोई कहे कि राज अमात्य की तरहसे नहीं किन्तु स्वातन्त्र्यत्वेन उत्पत्यादि और चतुर्वर्गफलदातृत्वादि है, वह भी कथन अपार्थ ही है। और इन चारों में वेदप्रमाणों द्वारा ब्रह्मशब्दका प्रधानत्वेन व्याचष्टिर है, किन्तु लाक्षणिकत्वेन नहीं है, यह भी कहना नहीं बनेगा। क्यों नहीं बनेगा? लोकमें जैसे किसी एक व्यक्तिको एक गाँठ हारिद्रकी उपलब्ध हुई और कहे कि मैं पंसारी हूँ उसका ऐसा वाक्य सुनके कोई अज्ञ मानव भी उसको पंसारी नहीं कहेगा किन्तु समस्त वस्तुओंकी उपलब्धि होजाने पर ही सब जनता उसे पंसारी कहने लगती है। तात्पर्य यह है कि निखिल वेद और वेदाङ्ग एक सच्चिदानन्द परब्रह्म नारायणमें ही प्राधान्यत्वेन ब्रह्म शब्दका प्रयोग होसकता है। जैसे लोकमें एक ग्रामका राजा कहा जाता है और दश पचास सौ सहस्र लक्ष ग्रामका भी राजा कहा जाता है परन्तु सब राजा शब्दका पर्यवसान सार्वभौम राजामें ही

समाप्त होजाता है वैसे ही ब्रह्मशब्दका भी जानना चाहिए। जैसे अन्नो ब्रह्म मनो ब्रह्म विज्ञानं ब्रह्म इत्यादिवत् समझना चाहिये और कात्स्न्येन उपनिषद् भी इसी अर्थको प्रकाश करता है। और चारोंकी उपासनाका विधान क्यों किया ? समाधान यह है कि इन चारोंको उत्तरोत्तर उपासना करनेसे मोक्षरूप फलोपलब्धि होती है और शास्त्र भी चरितार्थ होजाता है और ये चारों ब्रह्मका प्रधान शरीर हैं और इन चारोंके ही द्वारा ब्रह्म फलदाता आशु होजाता है। इस अर्थमें निखिलोपनिषत् प्रमाण है। और उत्तरोत्तर सम्बन्ध दिखाते हैं। देवोपासनामें सकाम और निष्काम ये दोनों एक ही देवमें विद्यमान हैं। परन्तु इतना और भी समझना चाहिये कि प्रथम सकामोपासना गणपति देवकी की और गणपति देवने जो स्वशक्तिके अनुसार फल देदिया। और निष्कामोपासना की तब गणपति देवने सूर्यका भक्त बना दिया। जब सूर्यभक्त होगया तब सकामोपासना की तो सकामानुसार अथवा स्वशक्त्यनुसार फल देदिया। जब निष्काम भक्ति की तब सूर्यदेवने शक्तिका भक्त बना दिया। जब शक्तिभक्त होगया तब सकामोपासना की तदनुसार वा स्वशक्ति अनुसार फल देदिया। और निष्काम की तब शक्तिने शिवभक्त बना दिया। जब शिवभक्त बनगया तब सकामोपासनानुसार फल देदिया और निष्कामभक्ति की तब शिवजीने श्रीविष्णुभक्त कर दिया। जब सकामोपासना की तब स्वभक्तको तुच्छ फल भोगा करके निष्काम बुद्धि देदी। ददामि बुद्धियोगं तम् येन मामुपयान्ति ते। जब श्रीहरिने उपासकको निष्काम भक्ति देदी तब भक्त्या मोक्षः मोक्षात् परं न किञ्चिद्विद्यते। शक्ति क्यों न ब्रह्म है ? समाधान यह है कि दुर्गापाठमें लिखा है कि 'त्वं विष्णुमायया' इस वाक्यसे पूर्ण ज्ञात हुआ कि शक्ति विष्णु

की शक्ति है तब तो शक्तिमान्में रहेगी नान्यत्र इस न्यायसे भी स्वातन्त्र होनेकी व्यावृत्ति होगई। शिवपुराणमें दो शिव माने गये हैं कारणमहाशिव और कार्यशिव। कारणमहाशिवसे विष्णु-देवका प्रादुर्भाव हुआ, उनसे ब्रह्माका प्रादुर्भाव हुआ, इनसे कार्य-शिवका प्रकट लिखा है। इसी प्रणालीको वैष्णव भी स्वीकार करते हैं क्योंकि यह महाशिव महाविष्णु महाशम्भु महारुद्र इत्यादि शब्दोंसे वैष्णवगण कहते हैं और शैवगण महाशिव महाशम्भु महारुद्र इत्यादि शब्दोंसे व्यवहार करते हैं। वाक्यमें भेद है, अर्थैक्यमें नहीं। इतना और भी समझना योग्य है कि विष्णुसहस्रनामसे भी ज्ञात होता है कि दो तरहका नाम है एक देवपरक दूसरा नारायणपरक। जो नाम देवगणोंका है वही नाम ब्रह्मका भी है। ऐसा समन्वय करने पर ही निर्विवाद होगा अन्य तरहसे कदापि नहीं। रकाराज्जायते ब्रह्मा रकाराज्जायते हरिः। रकाराज्जायते शम्भुः रकाराज्जायन्ते सर्वशक्तयः। ब्रह्म-विद्ब्रह्मैव भवति। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। इत्यादि प्रमाणोंसे भी ज्ञात हुआ कि एक ही परब्रह्मवाच्य श्रीराम हैं। पहिले सत्ययुगमें मनुष्योंका हंस नामक केवल एक ही वर्ण था उस समय लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसी लिये उसे कृतयुग भी कहते हैं। उस समय प्रणव ही वेद था और तप शौच दया एवं सत्यरूप चार चरणों वाला वृषभ-रूप ईश्वर ही धर्म था। तथा उस समयके निष्पाप और तपो-निष्ठ लोग हंसरूपसे श्रीहरिकी उपासना करते थे। त्रेतायुगके आगमन पर श्रीप्रभुके ही हृदयसे श्वास प्रश्वासके द्वारा ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेदरूप वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ और उस

त्रयीविद्यासे त्रिवृतयज्ञ अर्थात् होता ऋत्विक् और उद्गातारूपसे श्रीप्रभुने प्रकट किया। तथा विराट् पुरुषके मुख भुजा ऊरु और चरणोंसे क्रमसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी उत्पत्ति हुई। इन चारों वर्णोंकी पहचान अपने अपने आचरण से ही होती है। इसी प्रकार विराट् पुरुषकी जंघासे गृहस्थ, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास ये चार आश्रम प्रकट हुए। इन वर्ण और आश्रमोंके लोगोंके स्वभाव भी इनके जन्म स्थानकी नीचता और उच्चताके अनुसार नीच और उच्च हुए। शम दम तप शौच सन्तोष क्षमा कोमलता ईश्वरभक्ति दया और सत्य ये ब्राह्मणवर्णके स्वभाव हैं। तेज बल धैर्य शूरवीरता सहनशीलता उदारता पुरुषार्थ स्थिरता ब्राह्मणभक्ति और ऐश्वर्य ये क्षत्रियवर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता दानशीलता दम्भहीनता ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धन-सञ्चयसे सन्तुष्ट न होना ये वैश्यवर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण गौ और देवताओंकी निष्कपटभावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहना ये शूद्रवर्णके स्वभाव हैं। अपवित्रता मिथ्याभाषण चोरी करना नास्तिकता व्यर्थ कलह करना काम क्रोध और तृष्णा ये अन्त्यज वर्णोंके लक्षण हैं। अहिंसा सत्य अस्तेय काम क्रोध लोभसे रहित होना और प्राणियों की प्रिय और हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं। **सिद्धिनिरूपणम्।** ध्यानयोगके पारदर्शियोंने सब सिद्धियाँ एवं धारणायें अठारह बतलाई हैं। उनमें से प्रधान आठ श्रीहरि की हैं और दश गौणी अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होने वाली हैं। अणिमा महिमा और लघिमा ये तीन शरीरकी सिद्धियाँ हैं। प्राप्ति नामकी सिद्धियाँ इन्द्रियोंकी हैं। सुने और देखे हुए पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव करलेना प्राकाश्य नाम

की सिद्धि है तथा अपनी शक्तिको दूसरोंमें प्रेरित कर सकना ईशिता नामकी सिद्धि कही जाती है। नाना प्रकारके भोगोंकी सन्निधिमें भी उनमें आसक्त न होना वशिता नामकी सिद्धि कही जाती है। तथा इच्छित पदार्थोंकी चरम सीमाको प्राप्त करलेना प्राकाम्य नामकी आठवीं सिद्धि है। ये आठ प्रधान सिद्धियाँ श्रीप्रभुमें स्वतः सिद्ध हैं। इसी अर्थको श्रुतियाँ भी प्रकाश करती हैं।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

शरीरमें क्षुधा पिपासा आदि छः ऊर्मियों (शारीरिक वेगों) का न होना, दूरश्रवण तथा दूरदर्शन, मनके समान शीघ्रगति हो जाना, इच्छानुकूल रूप धारण कर लेना, अन्य शरीरमें प्रवेश कर जाना, स्वेच्छामृत्यु, देव देवांगनाओंके साथ मिलना और क्रीड़ा करना, संकल्पसिद्धि, अप्रतिहत (जिसका कोई उल्लंघन न कर सके ऐसी) आज्ञा और गति लाभ कर लेना ये दश सिद्धियाँ सत्त्वगुणोद्रेक से होती हैं। इनसे अतिरिक्त त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता (शीत उष्ण सुख दुःख राग द्वेषादि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना), दूसरेके चित्तकी बात जान लेना, अग्नि सूर्य जल विषादिकी शक्तिको बाँध देना और किसीसे भी पराजित न होना ये पाँच सिद्धियाँ और भी हैं। अब इनमेंसे जो सिद्धि जिस धारणासे और जिस प्रकारसे होती है वह बतलाता हूँ। जो भक्त मनको तन्मात्रारूप निश्चित कर उसे श्रीहरि जो हैं सो भूत सूक्ष्मोपाधिक (तन्मात्रारूप) परमात्मामें स्थिर करता है वह अणिमा नामकी सिद्धि प्राप्त करता है। महत्त्वरूप श्रीप्रभुमें मन की महत्त्वरूपसे ही धारणा करने वाला भक्त विभिन्न विभिन्न भूतकी महत्तारूप महिमा नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अणोरणीयां महतो महीयान्। यह वेदवाक्य भी इसी अर्थको

प्रद्योतन करता है। पञ्चभूतोंके परमाणुरूप श्रीहरिस्वरूपमें चित्त को लगादेनेसे भक्त योगी लघिमा नामकी सिद्धिको प्रत्यक्ष कर लेता है जिससे कि वह कालके समान सूक्ष्म होसकता है जैसे श्रीहनुमानादिक। सात्त्विक अहंकाररूप श्रीप्रभुमें चित्तकी धारणा करनेसे प्रभुध्यान करने वाला भक्त योगी इन्द्रियोंका अधिष्ठाता होकर प्राप्ति नामकी सिद्धि पाता है। जो जन श्रीहरि महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपने चित्तको स्थिर करता है वह अव्यक्तजन्मा श्रीहरिकी प्राकाश्य नामकी सर्वश्रेष्ठ सिद्धिको प्राप्त करता है। जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी कालस्वरूप श्रीविष्णु प्रभुमें चित्तकी धारणा करता है वह ईशित्व नामकी सिद्धि पाता है जिस से कि वह क्षेत्रज्ञ (जीव) और क्षेत्र (शरीरादि) को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। जो योगी भगवच्छब्द पदवाच्य तुरीय संज्ञक नारायणमें मन लगा देता है प्रभुस्वभावका अनुसरण करता है वह वशिता नामकी सिद्धिको आददान करता है। निर्गुण त्रिपाद विभूतिस्थ श्रीराममें ही अपने निर्मल चित्त को स्थ करदेनेसे भक्तयोगी परमानन्दस्वरूपिणी प्राकाम्य नामकी सिद्धि प्राप्त करता है जिसके मिलने पर सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त होजाता है। धर्ममय शुद्धस्वरूप श्वेत द्वीपाधिपतिमें चित्त की धारणा करनेसे योगी जन्ममरण क्षुधा तृष्णा शोक और मोहरूप छः ऊर्मियोंसे मुक्त (छूट) होकर शुद्ध होजाता है। समष्टि प्राणरूप श्रीपरमात्मामें मनके द्वारा नाद (अनहद शब्द) का अनुसन्धान करते रहनेसे योगी दूरश्रवण नामकी सिद्धिसे आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोलियोंको सुन सकता है। नेत्रोंका सूर्यसे और सूर्यका नेत्रोंसे संयोग करते हुए उन दोनोंके सम्बन्धके मध्यमें मन ही मन श्रीहरिका ध्यान करनेसे सूक्ष्मदर्शी योगी दूरदर्शन नामक सिद्धिसे विश्वके चाहे

जिस पदार्थको देख सकता है । मन शरीर और उनके अनुगामी प्राणवायुको मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करनेसे मनोजव सिद्धि मिलती है जिसके प्रभावसे जहाँ चित्त जाता है वहीं शरीर भी पहुँच जाता है। श्रीहरि सर्वव्यापकमें चित्त लगाने से योगबलसम्पन्न हुआ व्यक्ति जिस समय जैसा रूप धारण करना चाहता है वैसा ही करलेता है। जो योगी परशरीरमें प्रवेश करना चाहे वह अपने आत्माकी उसमें भावना करे। ऐसा करनेसे वायुरूप प्राण भ्रमरकी भाँति उसके शरीर को छोड़कर उसमें प्रवेश कर जायगा। देवताओंके विहार स्थलों में क्रीड़ा करनेकी इच्छा हो तो शुद्ध सत्त्वमय श्रीप्रभुस्वरूपकी भावना करे। इससे सत्त्ववृत्तिरूपिणी सुरसुन्दरियाँ विमानादि के सहित उपस्थित होजाती हैं। सत्यस्वरूप श्रीप्रभुमें चित्तको स्थिर करके श्रीप्रभुका ध्यान करनेवाला भक्त बुद्धिके द्वारा जिस समय जैसा संकल्प करता है तत्काल उसे वही प्राप्त होजाता है। जो प्रपन्न सर्वनियन्ता और नित्यस्वाधीन श्रीहरिमें अपना चित्त लगा देता है उसकी आज्ञाका भी श्रीप्रभुसमान कहीं उल्लंघन नहीं होसकता है। श्रीप्रभु-भक्तिके द्वारा जिस प्राणीका चित्त शुद्ध होगया है उस धारणावद्धकी बुद्धि त्रिकालदर्शिनी होजाती है और वह जन्ममरणादि अदृष्ट विषयोंको भी जान जाता है। जैसे जल जन्तुओंका नाश नहीं करता उसी प्रकार जिसका चित्त श्रीहरिमें लगे रहनेसे शान्त होगया है उसके योगमय शरीरका भी अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं होता। जो भक्तजन कोई श्रीवत्स और शंख चक्र गदा पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा छत्र व्यजनादिसे अलंकृत श्रीप्रभु अवतारोंका ध्यान करता है वह अजेय होजाता है। निरन्तर श्रीहरिका ध्यान करने वाले उस मुनिको ऐसी कौनसी सिद्धियाँ हैं कि दुर्लभ हों। परन्तु

उत्तम उपासनाके द्वारा जिसका चित्त श्रीरामभद्रजीमें लग गया है उस भक्तके लिये ये सिद्धियाँ व्यर्थकालक्षेपका कारण होनेसे विघ्नरूप ही कही गई हैं। जन्म ओषधि तप और मन्त्र आदिसे प्राप्त होने वाली समस्त सिद्धियाँ योग द्वारा प्राप्त होसकती हैं किन्तु योगकी गति सारूप्य सालोक्यादि मुक्तियाँ इन सिद्धियों से नहीं मिल सकती हैं। निखिल सिद्धियोंका तथा ब्रह्मवेत्ताओं के योग सांख्य और धर्म आदि साधनोंका एकमात्र श्रीहरि ही हेतु स्वामी और प्रभु है। भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः। गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम्। अर्थ—शान्ति और अहिंसा संन्यासीके मुख्य धर्म हैं। तप और ईश्वरचिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं। प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं। तथा गुरुसेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्। गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्। अर्थ—ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य तप शौच सन्तोष तथा भूत प्राणी दया ये आवश्यक धर्म हैं और श्रीहरिकी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है। इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञात-मद्गतिः। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो न चिरात् समुपैति माम्। अर्थ—इस प्रकार स्वधर्म पालनसे जिसका अन्तःकरण निर्मल होगया है और जिसने श्रीप्रभुगतिको जान लिया है वह प्राणी ज्ञान विज्ञानसम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है। वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः। स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः। अर्थ—वर्णाश्रमाचारियोंके धर्म आचार और लक्षण ये ही हैं। इसी धर्मका यदि श्रीप्रभुभक्ति के सहित आचरण किया जाय तो परममोक्षका कारण होजाता है। अहिंसा

सत्य अस्तेय असंगता (कुविषय लोलुपरहित) ही (लज्जा) असञ्चय (आवश्यकतासे अधिक धन न जोड़ना) आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन (प्रिय और सत्य बोलना) स्थिरता, क्षमा, अभय, तथा शौच जप तप, (सनातनसे चले आये हुए व्रतोंके दिन उपवास करना) होम, श्रद्धा (गुरु और वेदान्तवाक्योंमें विश्वास रखनेका नाम श्रद्धा कहा जाता है) अतिथिसेवा, श्रीहरिपूजन, तीर्थभ्रमण, परोपकार, सन्तोष और गुरुसेवा ये बारह बारह यम और नियम कहे गये हैं। शेमुषी (बुद्धि) का श्रीहरिमें लग जाना शम है । इन्द्रियदमनको दम कहते हैं । दुःखसहनका नाम तितिक्षा है तथा जिह्वा और उपस्थेन्द्रियका निग्रह ही धैर्य है। धर्म ही मनुष्योंका इष्ट धन है। ज्ञानोपदेश ही वास्तविक दक्षिणा है। श्रीहरिभक्ति का प्राप्त होना ही परम लाभ है। श्रीहरिचरणचिन्तन ही विद्या है। निरपेक्षता आदि गुण ही श्री है। श्रीभगवद्गुणानुवाद ही सुनना वा मनन करना ही सुख है । विषयसुखकी अपेक्षा ही दुःख है जो बन्ध और मोक्षको जानता है वही पण्डित है। देह आदिमें अहं बुद्धि (मैं पन) रखने वाला ही मूर्ख है । शास्त्र ही भगवत्प्राप्तिका मार्ग है। शास्त्रमें अविश्वास ही कुमार्ग है । सद्गुण युक्त ही श्रीहरिपूजनरूप स्वर्ग है। तमोगुणका होना ही नरक है। असन्तुष्ट है वही निर्धन है, जो अजितेन्द्रिय है वही कृपण (दीन) है। जो विषयोंमें अनासक्त है वही समर्थ है। तत्त्वविचार भेद निरूपण दिखाते हैं। कोई आचार्य छब्बीस, कोई पच्चीस, कोई सात, कोई नौ, कोई छः, कोई चार, कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह तत्त्व बतलाते हैं । ऋषिगण किस अभिप्रायसे इतनी भिन्न भिन्न संख्यायें बतलाते हैं? समाधान यह है कि तत्त्व परस्पर मिले हुए हैं अतः वक्ताके तात्पर्यानुसार

कार्य कारणभावसे सभी संख्यायें ठीक हैं । कारणतत्त्व अथवा कार्य तत्त्वमें एक एकमें और और तत्त्व भी सम्मिलित दिखलाई देते हैं अतः जिनको पूर्वापर (कारण कार्यरूपसे तत्त्वोंकी न्यूनाधिक संख्या) इष्ट है उनके सभी कथन युक्तियुक्त होनेके कारण ग्राह्य हैं । जैसे कोई सात ही तत्त्व मानने वालोंके विचारसे पाँच तो आकाशादि पञ्चभूत, एक साक्षी और एक इन साक्ष्य और साक्षी दोनोंका अधिष्ठान परमात्मा है । देह इन्द्रिय प्राणादि तो इन भूतोंसे ही उत्पन्न हुए हैं। जो कोई छः ही तत्त्व बतलाने वालों के मतमें पाँच भूत और छठा परमात्मा है। और सब परमात्मामें ही समावेश है। जो लोग चार ही कारणतत्त्व बतलाते हैं उनके अनुसार तेज जल अन्न और आत्मा ये चार ही हैं। उनके विचार से इन्हींसे और भी सब तत्त्व उत्पन्न हुए हैं । जो लोग सत्रह गिनाने वालोंके विचारसे पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, आत्मा और मन इस प्रकार कुल सत्रह तत्त्व हैं। और जो कोई सोलह गिनानेमें आत्मा ही को मन मान लिया है और तेरह की गणनामें, पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन, जीवात्मा और परमात्मा ये तेरह माने हैं। ग्यारहकी संख्यामें आत्मा, पञ्चभूत और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई हैं और नौकी संख्यामें आठ प्रकृतियाँ प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रायें और पुरुष ये नौ माने गये हैं। जो कि पच्चीस तत्त्व मानते हैं उनके मतसे पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, इनका विषय, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और आत्मा। जो चौबीस मानते हैं उनके मतसे आत्मा नहीं। जो कोई छब्बीस मानते हैं उनके मतसे ईश्वर सहित छब्बीस तत्त्व माने हैं। और जो कोई अट्ठाईस तत्त्व मानते हैं उनके मतसे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनके मिला देनेसे अट्ठाईस होगये । यही कथनसे भेद है।